आज के शहीद

सम्पादक

रतनलाल बंसल

छपवाने वाले—
सेक्रेटरी हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी,
४८ बाई का बाग, इलाहाबाद

पहली बार] सन् १९४९ [कीमत ढाई रुपया

कहाँ क्या

समर्पन

हिन्दू-मुस्लिम एकता के पन्थ की सच्ची जोगिन

बहेन अमतुस्सलाम के चरनों में, जिन्होंने नोआखाली
के हिन्दुओं के लिये अपनी जान भी बाज़ी
लगा दी थी और जो आज भी दीन दुखी
शरणार्थी भाई बहिनों की सेवा करती
हुई घर घर प्रेम का अलख
जगाती फिर रही हैं.

—सम्पादक

एक बात

किताब का नाम और ऊपर की टीप टाप गाहक को खींचती है. वह खरीदने के लिये उसे उठाता भी है पर दाम निकालने से पहले एक पन्ना पलटता ही है. इस किताब का पहला पन्ना ऐसा था कि गाहक समझ जाता कि किताब किस तरह की है. मैं एक पन्ना और लिखकर गाहक को बे मतलब दो पन्ने पलटने के लिये मजबूर कर रहा हूँ. किताब खुद काफी बोलती है, मैं तो रिवाज पूरा कर रहा हूँ.

देश की खातिर लड़ाई के मैदान में जान दे देना, मेरे खयाल में कुछ आसान है, क्योंकि लड़ाई में लड़ मरने वाले सिपाही का खून गरम होता है. वह बदला लेने के जोश में अपने तन की सुध भूल जाता है. फिर तन का क्या रहना और क्या न रहना. सत्याग्रह में देश की खातिर ठंडे खून वाले भी हथेली पर जान लिये फिरते हैं पर उन्हें भी देश की आजादी के बाद ठंडी छाती हो जाने की आशा रहती है. इसलिये वह भी तन की सुध भुला सकते हैं और जान की बाजी लगा सकते हैं. इस किताब में शहीदों का ही जिक्र है पर वतन की आजादी के शहीदों का नहीं. इसमें जिक्र है उन शहीदों का जो इनसानी प्रेम शिखा पर कूद-कूद कर अपनी बलि देते हैं, जान चली जाय तो जाय.

इस किताब में बलिदानों का एक ऐसा सिलसिला मिलेगा जिसमें समाज भक्त ने ढाल बनने की कोशिश की है, तलवार बनने की नहीं. जिरह बकतर बनने की कोशिश की है, तमंचा बनने की नहीं. समाज के दो दल रूपी हब्बों के बीच टक्कर बनकर पिचकर मरने में उसने अपना और समाज का भला सोचा है, फिरक़े वारियत को भड़काने में नहीं. यह किताब क्या है, सच्चे धरमात्माओं की जीवन कहानी है या सच्चे साधुओं की पाक कथा है. यही वह लोग थे जो समझते थे कि राम, रहीम, अल्लाह, ईश्वर, एक ही परमात्मा के नाम हैं. और यह कि दुनिया के सब लोग उसी एक के बंदे हैं और इस नाते भाई भाई हैं. इनमें लड़ाई कैसी. यह दो तन एक जान होने चाहियें. यह न हिन्दू थे न मुसलमान या यह हिन्दू भी थे और मुसलमान भी.यह न बंगाली थे न मदरासी, न पंजाबी और न गुजराती. या यह कि यह सब कुछ थे यानी हिन्दुस्तानी थे. बस यह इनसान थे या इनसान की शक्ल में देवता थे.

यह वीर थे और वीर पूजा के हक़दार हैं.

आदमी के ओछेपन को धोने में यह किताब गंगा जल क काम देगी.

नई दिल्ली
१-१-४६

भगवानदीन

सम्पादक का निवेदन

यह किताब 'आज के शहीद' जैसी भी बन पड़ी है, पढ़ने वालों के सामने है. इस किताब को निकालने का असल मन्शा सिर्फ़ यह है कि आज, जब कि फिरक़ापरस्ती के जहर में डूबे होने की वजह से हम इन्सानियत को भी भूल चुके हैं, तब अपने उन शहीदों की याद ताज़ा कर लें, जिन्होंने इन्सानियत को जिन्दा रखने के लिये अपनी क़ीमती जानें दीं और हिन्दू, सिख व इस्लाम मज़हब के नाम पर लगे हुए कलंक को अपने ख़ून से धोकर उसकी अज़मत को क़ायम रक्खा. इन शहीदों की याद हमारी इन्सानियत को उभारेगी और उभरी हुई मौजूदा हैवानियत को दबायेगी, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता.

इस किताब को तय्यार करने में आनरेबुल डा० कैलाशनाथ काटजू, गवर्नर पच्छिमी बंगाल, बहिन शकुन्तला चिन्तामनि (कलकत्ता), बहिन ज्ञान कुमारी हेडा (हैदराबाद) ने अपने लेखों के साथ साथ दूसरे शहीदों की जानकारी भेजकर और श्री गंगाप्रसाद 'नाजुक' इलाहाबादी, भाई ओम् प्रकाश पालीवाल फ़ीरोज़ाबाद, श्री हरिश्चन्द्र जैन फ़ीरोज़ाबाद व श्री जितेन्द्र कौशिक

ने दूसरी ज़बानों के लेखों का तर्जुमा करके, व इसी तरह के दूसरे काम करके जो मदद की है, उसके लिये मैं बहुत ही अहसानमन्द हूँ.

किताब निकालने में हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी के कार्यकर्ताओं ने और 'नया हिन्द' के भाई 'हुनर' साहब ने भारी मेहनत की है. 'हुनर' साहब को तो मेरे लेखों में जगह-जगह सुधार भी करना पड़ा है, इसलिये पढ़ने वालों को किताब का असल सम्पादक भाई 'हुनर' साहब को ही समझना चाहिये.

किताब में जिन भाई बहिनों के लेख हैं, उनके लिये तो मेरा धन्यवाद है ही. आशा है कि इस किताब को पढ़ने वाले भाई किताब के बारे में अपनी राय और सुझाव लिख भेजने की कृपा करेंगे, जिससे इस किताब का दूसरा एडीशन निकालते वक्त उनसे फ़ायदा उठाया जा सके.

विजयगढ़ (अलीगढ़) — रतनलाल बंसल

ता० २७—१—४९ — सम्पादक

श्री गणेश शंकर विद्यार्थी

उस दिन कानपुर में जैसे आग बरस रही थी.

'अल्लाहो अकबर' 'हर हर महादेव,' 'बजरंग बली की जय' जैसे पवित्र नारों के साथ इन्सानियत का दामन चाक चाक किया जा रहा था. घरों में औरतें सिसक रही थीं, बच्चे सहमे हुए थे और बीमार व बेबस लोग घबरा रहे थे.

आज हिन्दुओं को 'हिन्दू धर्म' की और मुसलमानों को अपने 'इस्लाम' की याद आगई थी.

राम और कृष्ण के अनुयायी आज दूधमुंहे बच्चों पर अपनी तलवारें आज़मा रहे थे और हजरत मुहम्मद के पैरो बीमार और बेबसों को जिन्दा जला कर 'इस्लाम' का नाम रोशन कर रहे थे. जो पाप और ज़ुल्म आदमी अपनी ख़ुदगरजी के लिये भी नहीं कर सकता, वह सब 'धर्म' और 'दीन' के नाम पर हो रहे थे. और जो यह नहीं करते थे या इनको करने से मना करते थे, वह अपनी क़ौम के ग़द्दार थे, क़ायर थे, उनको अपने मज़हब का खयाल ही नहीं था.

गुन्डों की बन आई थी, क्योंकि आज वह अपनी क़ौम के 'हीरो' थे. अगर अब्दुल्ला अपने पड़ोसी गौरी की लड़की को लेकर भाग गया था या उसने गौरी की लड़की को बेइज़्ज़त कर दिया था, तो आज मुसलमानों में अब्दुल्ला से ज़्यादा बहादुर कौन हो सकता था ? और अगर गौरी ने यही बरताव अब्दुल्ला की बहेन या लड़की के साथ किया था तो

गौरी की बहादुरी की तारीफ आज घर घर में होनी ज़रूरी थी. अगर मुक़दमा चले तो दोनों क़ौमें अपने अपने बहादुरों के लिये चन्दा देने को तय्यार हैं. गुन्डों को इससे ज़्यादा और चाहिये ही क्या ?

पुलिस भी ख़ुश थी. सन् १९३० का आन्दोलन हाल में ही बन्द हुआ था और यह ज़माना गान्धी इर्विन समझौते का था. जनता ने समझा था कि हमारी जीत होगई, तभी तो लाट सहाब ने हमारे महात्मा को बराबर की ताक़त मान कर उनसे समझौता किया है. आज तक तो सरकार कहती थी कि हम कॉंग्रेस को पूरे हिन्दुस्तान की नुमाइन्दा जमात नहीं समझते, लेकिन गान्धी ने सरकार की तमाम अकड़ ढीली कर दी. जनता अब पुलिस से डरती नहीं थी.

लेकिन अब वही जनता कैसी दौड़ दौड़ कर पुलिस के पास पहुँचती है. कानपुर के लोगों ने बलवे की जाँच कमेटी के सामने यह बयान दिये थे कि जब बाजार में बलवाई दूकानों के ताले तोड़ते थे, तब पहरा देने पर तैनात हथियार बन्द पुलिस के सिपाही मज़े में बैठे बैठे ताश खेलते रहते थे. घरों में बच्चों की, औरतों की चीखें आती रहती थीं और अंग्रेज सार्जेन्ट बाहर खड़ा खड़ा किसी अंग्रेज़ी गाने की लै पर मुँह से सीटी बजाता रहता था. कलक्टर के पास फ़ोन किया जाता था कि बलवाइयों ने हमको घेर लिया है, पुलिस भेजो, और अंग्रेज कलक्टर दहशत से काँपती हुई उस पुकार के जवाब में हँसता हुआ कहता था कि इस वक़्त गान्धी को याद करो. वही तुम्हारी मदद करेगा.

इस तरह विदेशी अफ़सर उस दिन हमारे देश का, हमारी आज़ादी की लड़ाई का, हमारे सबसे बड़े नेता का अपमान कर रहे थे और जनता बेबस थी.

पर इस अँधेरे में उस वक़्त एक बिजली सी कौंदी और उसकी रोशनी ने जैसे एक रास्ता सा दिखा दिया. जनता ने, मज़लूमों ने और ज़ुल्म करने वालों ने भी देखा कि एक दुबला पतला सा आदमी, नंगे सर, नंगे पैर, उस जलती आग में पागलों की तरह दौड़ता फिरता

लगाने दूँगा. मैं हिन्दुओं से क्या कहता हूँ, यह जाकर उस मुहल्ले के मुसलमानों से पूछो. वह तुमको बतलायेंगे कि वहाँ से उनको किस निकाला है. मुझे हिन्दू मुसलमान से क्या मतलब ? जो बेगुनाहों का ख़ून कर रहे हैं क्या वह भी हिन्दू या मुसलमान हैं ?"

भीड़ ख़ामोश है. ऊपर से सहमे हुए बच्चे और औरतें देख रहे हैं. उनके दिल धड़क रहे हैं. यह कौन है, जिसने उनको मौत के मुँह से उबार लिया है.

"तो अब आप क्या सोच रहे हैं ? आप साफ़-साफ़ बतलाइये कि आपका इरादा क्या है ?" उसने फिर भीड़ से कहा.

भीड़ से कुछ आदमी आगे बढ़ते हैं और मुलायम आवाज़ में कहते हैं—"आप यक़ीन रखिये, यहाँ अब कोई गड़बड़ नहीं होगी. लेकिन आप हिन्दुओं को भी समझाइये."

"मैं हिन्दुओं से भी इसी तरह कहता हूँ. वह जो कुछ कर रहे हैं उसके लिये मुझे शर्मिन्दगी है. आप मेरे सर पर हाथ रखकर मुझे भरोसा दीजिये कि यहाँ के हिन्दुओं की पूरी तरह हिफ़ाजत होगी."

"इसका इतमीनान हम कैसे दिलायें ? गुन्डों पर हमारा क्या बस है ! हाँ, आप हिन्दुओं को यहाँ से अभी निकाल ले जायें, तो हम अपनी हिफ़ाजत में उनको हिन्दू मुहल्लों में पहुँचा देंगे."

अब इस मुहल्ले से हिन्दू निकाले जा रहे हैं. वह आदमी चार च बच्चों को गोद में लिये घिरे हुए हिन्दुओं को हिफ़ाजत की जगह ले जा रहा है. जो भीड़ आग लगाने पर तुली हुई थी, वही उन हिन्दुओं को हिफ़ाजत की जगह पहुँचा रही है.

भीड़ में से एक आदमी, जो शायद कानपुर में बाहर से आया था एक दूसरे आदमी से पूछता है—"क्यों भाई ! यह है कौन ? बड़े जीवट का इन्सान मालूम होता है."

"अरे इनको नहीं जानते ? यह हैं गणेश शंकर विद्यार्थी. 'प्र अख़बार निकालते हैं और यहाँ के कांग्रेसी लीडर हैं. कम से

इस आदमी में तअस्सुब नाम को भी नहीं है. मैंने भी सुना है कि इसने बहुत से मुसलमानों को बचाया है."

"अच्छा !" पूछने वाले ने ताज्जुब से कहा. अब वह सोच रहा था कि सब हिन्दू भी एक से नहीं होते. उनमें कुछ शरीफ भी हैं.

और यह हिन्दू मुहल्ला है. सिर्फ एक मुसलमान खानदान यहाँ रहता था, इस वक़्त उसी को हिन्दुओं ने चारों तरफ़ से घेर रक्खा है. मुहल्ले के बड़े बूढ़ों ने मना किया, लेकिन उनकी सुनता ही कौन है ! भला धर्म के मामले में भी बड़े बूढ़ों की सुनी जाती है.

ऊपर छत से औरतें चीख रही हैं लेकिन भीड़ हँस रही है. किवाड़ों पर कुल्हाड़े चल रहे हैं. और 'बजरंग बली की जय' के नारे लग रहे हैं, उन बजरंग बली की जय के, जो मुसीबत में घिरी हुई सीता माता के लिये अकेले ही राक्षसों की नगरी में चले गये थे और उनके ही मानने वाले ख़ुद औरतों की इज़्ज़त लूटने को तय्यार हैं.

दरवाजा टूट चुका है. औरतें और बच्चे चीख रहे हैं. भीड़ घर में घुसना ही चाहती है कि विद्यार्थी जी यहाँ भी मौजूद हैं. वह दरवाज़ा रोक कर खड़े हो जाते हैं, "मेरे जीते जी तुम ऐसा नहीं कर सकते."

"इन कांग्रेस वालों ने ही हिन्दू जाति का नाश किया है." एक नौजवान बड़बड़ाता है.

"विद्यार्थी जी ! आप यहाँ तो मेहरबानी कीजिये. हमें आपके उपदेशों की जरूरत नहीं है. हमारी माँ बहनों की लाज लूटी जा रही है और आप यह उपदेश देते फिरते हैं. आपको शर्म नहीं आती."

"शर्म तो मुझको तब आवेगी, जब आपको यह सब करने दूँ और खड़ा खड़ा देखता रहूँ. माँ बहिनों की लाज का लूटना अगर आप बुरा समझते हैं, तो ख़ुद यह काम क्यों कर रहे हैं ?"

"मुसलमानों को भी यह समझाइये न."

"उनको भी समझाता हूँ. अभी ....मुहल्ले से चला आ रहा हूँ.

वहाँ से दो सौ हिन्दुओं को निकाल कर हिन्दू मुहल्लों में मैंने अभी-अभी पहुँचाया है. यकीन न हो तो मेरे साथ चल कर देख लो."

"यह सबक हमें नहीं चाहिये. अब आप यहाँ से हट जाइये. बड़े आये कांग्रेसी." एक नौजवान ने आगे बढ़ कर विद्यार्थी जी को धक्का दिया, इस पर कुछ लोगों ने उस नौजवान को पीछे खींच लिया. उनमें कितना ही जोश हो, पर विद्यार्थी जी की बेइज़्ज़ती बर्दाश्त नहीं कर सकते.

कुछ ही देर में विद्यार्थी जी उस मुसलमान खानदान को एक मुसलमान मुहल्ले की तरफ़ लिये जा रहे थे. उन दिनों चौबीसों घंटे वह इसी काम में लगे रहते थे. इसमें हर एक क़दम पर मौत से सामना होता था, लेकिन देश की इज़्ज़त और बेगुनाहों की जानें उनको अपनी जान से ज़्यादा प्यारी थीं.

सरकारी अफसरों ने, फूट परस्तों ने और गुन्डों ने विद्यार्थी जी का यह काम देखा तो उनकी छाती पर साँप लोटने लगा. इसका मतलब तो यह हुआ कि यह कांग्रेसी लोग पुलिस और फौज से भी ज़्यादा ताकत रखते हैं. पर्दे के पीछे फिर कुछ खुस फुस हुई और इस काँटे को भी हटाने का इन्तजाम कर लिया गया. जिसे देखकर हत्यारों के हाथ से तलवार गिर पड़ती थी, उसी की हत्या करने की साज़िश अब उन लोगों ने की, जो अपने को पढ़ा लिखा और मुहज़्ज़ब कहते थे. लेकिन इस खूनी घटना को बताने से पहिले विद्यार्थी जी की जिन्दगी पर भी एक नजर डाल लें, जिससे हम समझ सकें कि हमारे देश का कितना क़ीमती हीरा उस समय हमारी ही हैवानियत से मिट्टी में मिल गया. हमने अपने कितने बड़े सेवक या कितने सच्चे और बहादुर देश भक्त का अपने ही हाथों खून कर दिया था. हाय री हमारी जेहालत.

मामूली खाते पीते कायस्थ खानदान में श्री गणेश शंकर जी विद्यार्थी का जनम हुआ था. आप के पिता जी का नाम मुंशी जय नारायण और आपकी माता जी का नाम श्रीमती गोमती देवी जी था. कहा जाता है कि जब विद्यार्थी जी माँ के पेट में थे, तब विद्यार्थी जी की नानी ने सपने में गणेश जी की मूर्ति देखी थी और इसलिये उन्होंने ही विद्यार्थी जी के पैदा होने पर उनका नाम गणेश शंकर रक्खा था.

विद्यार्थी जी के शुरू के ढाई बरस अपने नाना मुंशी सूरज प्रसाद जी के घर में बीते, जो सहारनपुर जेल के नायब जेलर थे. मशहूर है कि विद्यार्थी जी के नाना जब जेल से घर लौटते थे, तब जेल में बनी हुई एक छोटी सी डबल रोटी अपने प्यारे नाती के लिये रोज़ाना ले आते थे और विद्यार्थी जी उसे बड़े शौक़ से खाते थे. शायद जेल की रोटी की यह चाट ही उनको बार-बार जेल में खींच ले गई.

विद्यार्थी जी की शुरू की तालीम ग्वालियर में हुई, क्यों कि उनके पिता ग्वालियर रियासत के मुंगावाली क़स्बे में वहाँ के एक स्कूल के हैडमास्टर हो गये थे. इसके बाद आपके पिताजी का तबादला भेलसा होगया. वहाँ आप अंग्रेजी पढ़ते रहे. सन् १६०७ में आपने इन्ट्रेन्स पास किया.

इन्ट्रेन्स पास करने के बाद भी आपने पढ़ना चाहा, इलाहाबाद की कायस्थ पाठशाला में आपने नाम भी लिखा लिया, लेकिन रुपये पैसे की तंगी ने आपको पढ़ने नहीं दिया. मजबूर होकर आपने पढ़ना छोड़ दिया. उस जमाने में, 'भारत में अंग्रेजी राज' किताब के लेखक और मशहूर देशभक्त पं० सुन्दर लाल जी इलाहाबाद से 'कर्मयोगी' अख़बार निकाला करते थे. उस अख़बार के सम्पादन में विद्यार्थी जी भी काफ़ी मदद करते थे. शायद देश की आज़ादी का ख़याल भी इसी ज़माने में आपके दिल में पैदा हुआ.

इसके बाद किसी नौकरी की तलाश में आप कानपुर आगये, जहाँ

आपके बड़े भाई शिवव्रत जी रहते थे. ६ फ़रवरी १६०८ को आप कानपुर के करैन्सी आफ़िस में तीस रुपये महीने पर क्लर्क हुए. इस ज़माने में भी आप अक्सर किताबें और अखबार पढ़ते रहते थे. इस पर एक अंगरेज अफ़सर से आपकी झपट होगई और आपने इस्तीफ़ा दे दिया.

दिसम्बर १६१० में आप कानपुर के पृथ्वीनाथ हाई स्कूल में बीस रुपये महीने पर मास्टर होगये. उस ज़माने में सुन्दर लाल जी के 'कर्मयोगी' अखबार की बहुत धूम थी. आपका तो शुरू से ही इस अखबार से लगाव था, इसलिये जब आप स्कूल पहुँचते, तब अक्सर आपकी जेब में 'कर्मयोगी' भी होता था. एक दिन हैडमास्टर ने आपकी जेब में 'कर्मयोगी' देखा, तो आपको ऐसे 'बग़ावत' फैलाने वाले अखबार को पढ़ने से मना किया. इस पर आपने यह नौकरी भी छोड़ दी.

इसी ज़माने में आपने दो एक लेख लिखे, जो हिन्दी की मशहूर पत्रिका 'सरस्वती' में छपे. इसके साथ ही आप 'कर्मयोगी' में और 'स्वराज्य' में भी लिखते रहते थे। 'स्वराज्य' अखबार इसके लिये मशहूर है कि बगावत फैलाने के जुर्म में कुछ ही महीनों के भीतर एक के बाद एक उसके सात सम्पादकों को काले पानी की सजा हुई थी. इसके बाद तो यह अखबार बन्द ही हो गया. यहीं से आपको अखबार नवीसी से दिलचस्पी हो गई और कुछ दिन 'सरस्वती' और 'अभ्युदय' में नौकरी करने के बाद आपने 'प्रताप' अखबार निकालना शुरू कर दिया.

'प्रताप' का पहिला अंक ६ नवम्बर १६१३ को निकला, शुरू में यह हफ़्ते भर में एक बार निकलता था, बाद में सन् १६१६ से यह रोज़ाना निकलने लगा. लेकिन इस अखबार के ज़रिये मालदार बनने की ख़ाहिश कभी विद्यार्थी जी के दिल में पैदा नहीं हुई. शुरू से ही 'प्रताप' अखबार ग़रीब और बेकस जनता की आवाज़ बन गया. पुलिस

के ज़ुल्मों की कहानियाँ वह धड़ाके से छापता था और रियासती जनता पर होने वाले राजाओं के अत्याचारों का ऐसी निडरता से परदाफ़ाश करता था कि बड़े बड़े राजा भी 'प्रताप' से दहशत खाते थे. इसके नतीजे में हमेशा विद्यार्थी जी पर कोई न कोई मुक़दमा चलता रहता था और हमारे सूबे की सरकार 'प्रताप' से लम्बी लम्बी ज़मानतें माग कर ज़ब्त करती रहती थी. कई बार इसके लिये विद्यार्थी जी को लाखों रुपये का लालच भी दिया गया कि वह किसी खास मामले में चुप्पी साध लें. लेकिन विद्यार्थी जी ने कभी अपने सुख आराम को तरजीह नहीं दी, इसलिये ऐसे लालच उन पर क्या असर करते? अपने उसूलों के वह इतने सच्चे थे कि कई बार, उन लोगों की ख़ातिर, जो उनके अख़बार को ख़बरें भेजते थे, वह खुद सज़ा काट आये. सरकार ने ज़ोर डाला कि वह ख़बर भेजने वालों का नाम बतादें, लेकिन उन्हों ने साफ़ इनकार कर दिया .

७–जिन लोगों ने विद्यार्थी जी के साथ काम किया है, वह बताते हैं कि उनकी ज़िन्दगी भूकों मरते ही कटी. जब कभी चार पैसे होते, कोई न कोई जरूरत मन्द आकर उनको लेजाता. फ़रार क्रान्तिकारी उनके यहाँ महीनों रहते और विद्यार्थी जी किसी न किसी तरह उनकी जरूरतें पूरी करते ही थे. सरदार भगत सिंह जी भी 'प्रताप' आफ़िस में कई महीने तक रहे थे.

८–कोई कॉंग्रेसी साथी जेल चला जाता तो विद्यार्थी जी उसके खानदान की फ़िक्र रखते थे. इस सिलसिले में ऐसे लोगों की भी उन्होंने मदद की, जो ज़िन्दगी भर उनके खिलाफ़ रहे. अगर आस पास के किसी गाव में पुलिस की ज़्यादती सुनते तो विद्यार्थी जी वहाँ जरूर पहुँचते. इस तरह जनता के अधिकारों के लिये लड़ने वाले वह एक अथक योधा थे. बेसहारे देश भक्तों के सहारे थे और कानपुर ज़िले की कॉंग्रेस तो उनके सहारे चलती ही थी.

विद्यार्थी जी के दिल में देशभक्तों के लिये कितना दर्द था, इसकी

आपके बड़े भाई शिवव्रत जी रहते थे. ६ फ़रवरी १९०८ को आप कानपुर के करेन्सी आफिस में तीस रुपये महीने पर क्लर्क हुए. इस ज़माने में भी आप अक्सर किताबें और अखबार पढ़ते रहते थे. इस पर एक अंगरेज अफ़सर से आपकी झपट होगई और आपने इस्तीफ़ा दे दिया.

दिसम्बर १९१० में आप कानपुर के पृथ्वीनाथ हाई स्कूल में बीस रुपये महीने पर मास्टर होगये. उस जमाने में सुन्दर लाल जी के 'कर्मयोगी' अखबार की बहुत धूम थी. आपका तो शुरू से ही इस अखबार से लगाव था, इसलिये जब आप स्कूल पहुँचते, तब अक्सर आपकी जेब में 'कर्मयोगी' भी होता था. एक दिन हैडमास्टर ने आपकी जेब में 'कर्मयोगी' देखा, तो आपको ऐसे 'बग़ावत' फैलाने वाले अखबार को पढ़ने से मना किया. इस पर आपने यह नौकरी भी छोड़ दी.

इसी ज़माने में आपने दो एक लेख लिखे, जो हिन्दी की मशहूर पत्रिका 'सरस्वती' में छपे. इसके साथ ही आप 'कर्मयोगी' में और 'स्वराज्य' में भी लिखते रहते थे। 'स्वराज्य' अखबार इसके लिये मशहूर है कि बगावत फैलाने के जुर्म में कुछ ही महीनों के भीतर एक के बाद एक उसके सात सम्पादकों को काले पानी की सज़ा हुई थी. इसके बाद तो वह अखबार बन्द ही हो गया. यहीं से आपको अखबार नवीसी से दिलचस्पी हो गई और कुछ दिन 'सरस्वती' और 'अभ्युदय' में नौकरी करने के बाद आपने 'प्रताप' अखबार निकालना शुरू कर दिया.

'प्रताप' का पहिला अंक ९ नवम्बर १९१३ को निकला. शुरू में यह हफ़्ते भर में एक बार निकलता था, बाद में सन् १९१९ से वह रोज़ाना निकलने लगा. लेकिन इस अखबार के ज़रिये मालदार बनने की ख़्वाहिश कभी विद्यार्थी जी के दिल में पैदा नहीं हुई. शुरू से ही 'प्रताप' अखबार ग़रीब और बेकस जनता की आवाज़ बन गया. पुलिस

के ज़ुल्मों की कहानियाँ वह धड़ाके से छापता था और रियासती जनता पर होने वाले राजाओं के अत्याचारों का ऐसी निडरता से परदाफ़ाश करता था कि बड़े बड़े राजा भी 'प्रताप' से दहशत खाते थे. इसके नतीजे में हमेशा विद्यार्थी जी पर कोई न कोई मुकद्मा चलता रहता था और हमारे सूबे की सरकार 'प्रताप' से लम्बी लम्बी ज़मानतें माग कर ज़ब्त करती रहती थी. कई बार इसके लिये विद्यार्थी जी को लाखों रुपये का लालच भी दिया गया कि वह किसी खास मामले में चुप्पी साध लें. लेकिन विद्यार्थी जी ने कभी अपने सुख आराम को तरजीह नहीं दी, इसलिये ऐसे लालच उन पर क्या असर करते? अपने उसूलों के वह इतने सच्चे थे कि कई बार, उन लोगों की खातिर, जो उनके अखबार को खबरें भेजते थे, वह खुद सज़ा काट आये. सरकार ने ज़ोर डाला कि वह खबर भेजने वालों का नाम बतादें, लेकिन उन्हों ने साफ इनकार कर दिया .

जिन लोगों ने विद्यार्थी जी के साथ काम किया है, वह बताते हैं कि उनकी ज़िन्दगी भूकों मरते ही कटी. जब कभी चार पैसे होते, कोई न कोई जरूरत मन्द आकर उनको लेजाता. फरार क्रान्तिकारी उनके यहाँ महीनों रहते और विद्यार्थी जी किसी न किसी तरह उनकी जरूरतें पूरी करते ही थे. सरदार भगत सिंह जी भी 'प्रताप' आफ़िस में कई महीने तक रहे थे.

कोई काँग्रेसी साथी जेल चला जाता तो विद्यार्थी जी उसके खानदान की फ़िक्र रखते थे. इस सिलसिले में ऐसे लोगों को भी उन्होंने मदद की, जो ज़िन्दगी भर उनके खिलाफ़ रहे. अगर आस पास के किसी गांव में पुलिस की ज़्यादती सुनते तो विद्यार्थी जी वहाँ जरूर पहुँचते. इस तरह जनता के अधिकारों के लिये लड़ने वाले वह एक अथक योधा थे. बेसहारे देश भक्तों के सहारे थे और कानपुर ज़िले की काँग्रेस तो उनके सहारे चलती ही थी.

विद्यार्थी जी के दिल में देशभक्तों के लिये कितना दर्द था, इसकी

एक मिसाल यह है कि काकोरी केस में जब ठाकुर रोशन सिंह जी फाँसी पर चढ़ गये, तो अपने पीछे अपनी विधवा और एक जवान लड़की को भी छोड़ गये बेचारी विधवा ने बड़ी मुश्किल से लड़की की शादी तय की, लेकिन गाँव के थानेदार ने अपनी सरकार परस्ती के ज़ोम में लड़के वालो को डरा दिया और वह यह रिश्ता करने से इनकार करने लगे .

अब विधवा को बड़ी भारी परेशानी थी, लेकिन वह क्या करे! आस पास के कांग्रेस वालों को भी खबर भेजी गई, लेकिन यह सन् १६२८ का जमाना था, इस लिये सब चुप्पी साध गये. लेकिन किसी तरह इसकी खबर विद्यार्थी जी को लग गई और दूसरे ही दिन विद्यार्थी जी उस गाँव में मौजूद थे. विद्यार्थी जी सबसे पहिले उस थानेदार के पास गये और उसे काफी डाँट बताई. इसके बाद लड़के वालों से मिले. नतीजा यह हुआ कि उन्होंने रिश्ता करना मंजूर कर लिया. इसके बाद शादी के दिन विद्यार्थी जी फिर वहाँ पहुँचे और उन्होंने लड़की के बाप का काम खुद ही किया. एक खास बात यह थी कि उस थानेदार से विद्यार्थी जी ने कन्यादान की रस्म अदा कराई इस तरह विद्यार्थी जी ने उस बेचारी विधवा की एक भारी मुश्किल आसान कर दी. आज, हममें से कितने ऐसे हैं, जो अपने शहीदों के खानदान का इतना ख़याल रखते हैं!

विद्यार्थी जी की क़ाबलियत का तो कहना ही क्या? जब बोलने खड़े होते तो उनका एक एक लफ्ज़ सुनने वालों के दिलों में उतरता चला जाता था.

ऐसा ही पुरअसर लिखते भी थे.

सिर्फ इन्ट्रेन्स पास थे, फिर भी अंग्रेज़ी की कई किताबों का ऐसा कामयाब तर्जुमा किया कि बड़े बड़े लेखक दाँतों तले उंगली दाब गये. उनके मेहनती होने का यह हाल था कि अभी अखबार के लिये एडीटोरियल लिख रहे हैं और अभी उस पर टिकट भी लगा रहे हैं. कभी

कभी अखबारों को खुद ही लाद कर डाकखाने तक भी पहुँचा आते थे. काँग्रेस के काम में गाँवों को पैदल चल देते थे. न होता, तो साइकिल न जानने की वजह से किसी साइकिल चलाने के जानकर को साथ चलने के लिये राज़ी कर लेते और पीछे की सीट पर बैठकर बीस बीस मील चले जाते थे. उनका शरीर दुबला पतला था, लेकिन आत्मा उन्होंने लोहे की पाई थी.

अपनी उस छोटी सी जिन्दगी में ही उनको ऊँची से ऊँची इज़्ज़त मिली. कौन्सिल के मेम्बर रहे, कुल हिन्द हिन्दी सहित्य सम्मेलन के सभापति रहे, सूबे की काँग्रेस कमेटी के प्रेसीडेन्ट रहे और जब कानपुर में आल इंडिया काँग्रेस का सालना जलसा हुआ, तब स्वागत कमेटी के जनरल सैक्रेट्री भी विद्यार्थी जी ही थे. कहा जाता है कि यह तमाम ओहदे उन पर जबरन थोपे गये थे, वरना इनसे वह जिन्दगी भर दूर भागते रहे. कभी कभी खयाल होता है कि अगर कहीं आज वह होते तो कांग्रेस वालों में जो लालच और आपा धापी मची हुई है, उसे देखकर उनके दिल को कैसी परेशानी हुई होती ? इस मामले में वह पंडित जवाहर लाल जी से मिलते जुलते थे, जिनको ताक़त हाथ में रखने के लिये कभी कोई पार्टी बनाने का खयाल ही नहीं आता. उनके पास इन बातों के लिये वक्त ही कहाँ था ?

और इसी लिये तो जब उन्हों ने देखा कि आज उनके शहर कानपुर में, सरकारी अफसर काँग्रेस की इज़्ज़त धूल में मिलाये दे रहे हैं और जनता उनके भुलावे में आ गई है, तो वह और काँग्रेसियों की तरह चुपचाप इसे नहीं देखते रहे. सन् १९४५-४६ और ४७ के हिन्दू मुस्लिम बलवों के वक्त जिस तरह हमारे बहुत से काँग्रेसी भाई अपनी लीडरी बनाए रखने के लिये, जनता की हाँ में हाँ मिलाने लगे थे और अपनी अपनी क़ौम की फिरक़ा परस्त जमातों में मिल गये थे, उसी तरह विद्यार्थी जी भी चाहते, तो उस वक्त हिन्दू जनता की आखों के तारे बन जाते. इसके लिये उनको अपने को खतरे में डालने की जरूरत

नहीं थी. बस, अपने अखबार में मुसलमानों के खिलाफ़ लिख देते, या हिन्दुओं की एक दो गुप्त सभायें कर लेते और उनमें तक़रीरें झाड़ देते. जानने वाले जानते है कि बल्वों के वक़्त इसी तरह सैकड़ों आदमी अपनी क़ौम के लीडर बन जाते हैं और हज़ारों रुपये अलग पैदा कर लेते हैं. लेकिन विद्यार्थी जी ने तो वह रास्ता चुना, जिससे हिन्दू भी नाराज होते थे और मुसलमान भी. जब विद्यार्थी जी हिन्दुओं की हिफाजत करते, तो मुसलमान कहते, "कॉंग्रेसी बनता है, लेकिन अपनी क़ौम का पक्षपात करता है. इतने मुसलमान मारे जा रहे हैं, वहाँ नहीं पहुँचता" और जब विद्यार्थी जी मुसलमानों को बचाते हुए दिखाई देते, तो हिन्दू कहते, "इन कॉंग्रेसियों को सिवा मुसलमानों की खुशामद के कुछ और आता ही नहीं. हिन्दू चाहे जितने मर जायँ, इनको परवाह नहीं है. लेकिन एक भी मुसलमान के चोट लग गई, तो बस इनका दम निकल जाता है. धर्म द्रोही कहीं के."

विद्यार्थी जी दोनों की ही गालियाँ सुन लेते थे. जानते थे, इसमें इन बेचारों का क्या क़सूर? यह तो दूसरों के बहकाये हुए अपने मतलबी नेताओं के हाथों में खेल रहे हैं.. इन गाली देने वालों में से न तो हिन्दू उन मुहल्लों में पहुँचते हैं, जहाँ हिन्दुओं को खतरा है और न मुसलमान उन मुहल्लों में जाते हैं, जहाँ मुसलमानों को खतरा है. इसी लिये यह नहीं समझ पाते कि मैं तो दोनों को ही बचाता हूँ. शायद किसी दिन यह समझ सकें.

और "किसी दिन" तो जनता ने, उन गाली देने वालों ने असल बात समझी ही. लेकिन कब......?

शुरू में बताया जा चुका है कि जब विद्यार्थी जी के काम से बलवे की आग धीमी पड़ने लगी, तो उन सब लोगों के दिलों पर साँप लोटने लगे. जिनका हाथ इस बलवे में था. वैसे भी विद्यार्थी जी हमेशा उनकी आंखों में खटकते रहते थे. पुलिस नाराज थी, क्यों कि उसकी रिश्वत की कहानियाँ 'प्रताप' में रोज़ छपती थीं. सरकारी अफसर नाराज़ थे,

क्यों कि उन्हों ने ज़रा भी बेजाब्तगी की और 'प्रताप' ने उनके कान पकड़े. जमींदार और मिल मालिक परेशान थे क्योंकि विद्यार्थी जी ने ग़रीब किसानों और मजदूरों की हिमायत कर कर के उनको 'शेर' कर दिया था. अब जमींदार किसान को पिटवाता था, तो किसान मुक़ाबला करता था और मजदूरों की तनख्वाह घटाई जाती थी, तो हड़ताल हो जाती थी. कौंसिलों की मेम्बरी और चुंगी की चेयरमैनी से भी रईसों का रिश्ता ख़त्म होता जाता था और विद्यार्थी जी की 'भड़काई हुई' जनता उन लोगों को चुनने लगी थी, जो इन रईसों से दबते नहीं थे. फिर क्यों न इस काँटे को हमेशा के लिये दूर कर दिया जाय ?

श्री पट्टाभि सीतारमय्या ने अपनी किताब 'कांग्रेस के इतिहास' में यह साफ़ लिखा है कि "विद्यार्थी जी को धोका देकर एक जगह ले जाया गया, जहाँ वह सच्चे सत्याग्रही की तरह बिला किसी हिचक के चले गये और फिर वहीं वह क़त्ल कर दिये गये." और विद्यार्थी जी के नजदीकी दोस्त पं० श्री राम जी शर्मा सम्पादक 'विशाल भारत' ने इस लेख के लेखक को अपने एक खत में लिखा है—

"विद्यार्थी जी की हत्यामें सरकारी अधिकारियों का पूरा हाथ था..."

कहा जाता है कि उनका क़त्ल मुसलमानों के हाथों से इसलिये कराया गया, जिससे कि बलवे की आग और भी ज़्यादा भड़क उठे. उनको खबर दी गई कि फलाँ मुहल्ले में हिन्दुओं को मुसलमानों ने घेर रक्खा है. अपने कुछ मुसलमान साथियों को लेकर विद्यार्थी जी फ़ौरन उस मुहल्ले में पहुँचे. एक हिन्दू को देखते ही मुसलमानों की भीड़ उन पर झपटी, लेकिन विद्यार्थी जी के मुसलमान साथी बीच में आ गये और उन्होंने भीड़ को बताया कि यह तो गणेशशंकर विद्यार्थी हैं, जिन्होंने हजारों मुसलमानों को बचाया है. इस पर भीड़ फ़ौरन रुक गई लेकिन जो लोग इसी काम के लिये तैनात किये गये थे, उन्होंने कुछ आगे जाकर विद्यार्थी जी पर फिर हमला कर दिया. वह विद्यार्थी जी को खींच कर एक गली में ले जाने लगे. लेकिन विद्यार्थी जी ने शान्ति के साथ उन

क़ातिलों से कहा—"क्यों घसीटते हो मुझे, मैं भाग कर जान नहीं बचाऊँगा. एक दिन मरना तो है ही. अगर मेरे मरने से आप लोगों की ख़ून की प्यास बुझती हो, तो लो यह सर हाज़िर है."

इस पर विद्यार्थी जी वहीं कत्ल कर कर दिये गये. हमारा तमाम सूबा जिसकी रोशनी से जगमगा रहा था, अपने उस दीपक को हमने अपने ही हाथों बुझा दिया.

बापू जब भी कहीं बलवा होने की खबर पाते थे, तभी उनको विद्यार्थी जी की याद आती थी. वह अक्सर कहा करते थे कि मैं तो गणेश शंकर जैसी मौत चाहता हूँ. और भगवान् ने गान्धी जी को ऐसी ही मौत दी.

यह थी विद्यार्थी जी की शान कि जिस गुरू के चरनों पर उन्होंने सब कुछ न्योछावर कर रक्खा था, वह गुरू भी उनकी जैसी ही मौत चाहता था. गान्धी जी कहा करते थे कि गणेशशंकर हमको सच्चे बलिदान का पाठ सिखा गया है.

काश! हम भी अपने इस देशभक्त की जिन्दगी और मौत से कुछ सीख पाते!

श्री गणेश शंकर विद्यार्थी

श्री लाल मोहन सेन

कलकत्ते की आग जब धीमी पड़ गई और फूट परस्तों ने महसूस किया कि उनकी हज़ार कोशिशें भी अब आम-जनता को एक दूसरे के गले पर तलवार चलाने के लिये नहीं उकसा सकतीं, तो उन्होंने बंगाल के किसी दूसरे हिस्से को इस काम के लिये तलाश करना शुरू किया और इसके बाद नोआखाली में और फिर नोआखली का असर लेकर ही बिहार में इन्सानों के ख़ून की जो होली खेली गई, उससे यह मानना ही पड़ेगा कि फूट परस्त अपनी कोशिशों में आखिर कामयाब होकर ही रहे और इस्लाम व हिन्दूधर्म के ऊँचे और सुनहरे नामों पर वह जितनी सियाही पोतना चाहते थे, उससे कहीं ज्यादा सियाही इन दोनों धर्मों के शानदार नामों पर लग गई। हाँ इस सिलसिले में इतना कह देना और जरूरी है कि नोआखाली के क़िस्से को दुगना, चौगुना, दस गुना और कभी-कभी तो इससे भी ज़्यादा बढ़ा कर दिखाने में हिन्दू और हिन्दी अखबारों ने इस आग को बढ़ाने में जाने या अनजाने ख़ूब ही मदद दी और जब इसके नतीजे में बिहार में ख़ूरेज़ी शुरू हुई, तो उर्दू अखबारों ने भी यही शर्मनाक रवय्या इख़्तियार करके मुल्क भर में यह आग फैला दी, जिसका नतीजा सरहद, पच्छिमी पंजाब और सिन्ध के बेकसूर हिन्दुओं को और पूर्वी पंजाब व यू. पी. के कुछ इलाक़ों की बेक़सूर मुसलमान जनता को भोगना पड़ा. लेकिन क्या कोई कह सकता है कि अब भी इन ख़ून के प्यासों की प्यास बुझ गई है?

नोआखाली में जो दर्दनाक घटनाएँ घटीं, उन सबके बीच वहाँ के एक

देशभक्त नौजवान श्री लाल मोहन सेन की शहादत को बंगाल का दिल कभी भूल नहीं सकेगा.

श्री लाल मोहन सेन नोआखाली के पास ही बसे हुए से द्वीप इलाके के रहनेवाले थे, और उनको होश संभालने से पहले ही देशभक्ती की चाट लग गई थी. उनके पिता महाजनी का पेशा करते थे और गाँव भर में उनको बड़ी इज़्ज़त की निगाह से देखा जाता था. शुरू शुरू में तो लाल मोहन सेन के पिता का इरादा था कि अपने इस लड़के को वह पढ़ाने लिखाने के बजाय दूकानदारी का काम ही सिखावें, जिससे कुछ बरस बाद ही वह उनको मदद देने लगे, लेकिन लाल मोहन सेन का जेहन देखकर उनको अपना इरादा बदलना पड़ा और लाल मोहन सेन गाँव की ही पाठशाला में पढ़ने लगे. कहा जाता है कि बचपन में लाल मोहन सेन बेहद शरारती थे और उनकी वजह से उनके साथियों और स्कूल मास्टरों का नाकों दम रहता था. लेकिन इसके साथ ही लाल मोहन सेन पढ़ने-लिखने में इतने तेज थे कि उनकी शरारतें भी सबको प्यारी लगती थीं और सभी यह कहते थे कि यह लड़का आगे चलकर बहुत नाम पैदा करेगा. यह कहा जा सकता है कि लाल मोहन सेन ने उनकी इस उम्मीद को पूरा करके दिखा दिया, लेकिन ज़रा दूसरे रूप में.

गाँव की पढ़ाई पूरी हो जाने के बाद लाल मोहन सेन को आगे पढ़ाने का सवाल पैदा हुआ और वह अपने बड़े भाई के पास, जो उन दिनों चटगाँव में रह कर अपनी पढ़ाई पूरी कर रहे थे, भेज दिये गये जिन लोगों ने हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का इतिहास पढ़ा है वह जानते हैं कि हमारे इस इतिहास में चटगाँव एक खास हैसियत रखता है. जिन दिनों लाल मोहन सेन चटगाँव पहुँचे, उन दिनों तो वहाँ उन क्रान्तिकारियों का, जो हिंसा के ज़रिये आज़ादी लेने पर यक़ीन करते थे, एक बहुत बड़ा संगठन काम कर रहा था. इस संगठन के नेता सूर्यसेन थे, जिनको उनके साथी 'मास्टर दा' के नाम से पुकारते

आज के शहीद

श्री लाल मोहन सेन

लाया हूँ और तब भी मेरा यह काम चोरी इसलिये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मैं एक खत के ज़रिये बाबा को यह सूचना दे आया हूँ कि रुपया मैं लिये जा रहा हूँ और यह रुपया एक अच्छे काम में ही लगेगा. इसके अलावा और चारा भी क्या था मास्टर दा ?"

कुछ ही दिन बाद माँ का एक पत्र लाल मोहन को मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था कि इस तरह से रुपया ले जाना हालाँकि किसी तरह भी ठीक नहीं कहा जा सकता, लेकिन रुपया अगर किसी अच्छे काम में लग रहा हो, तो मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं."

मास्टर दा ने भी यह खत देखा और वह मन में सोचने लगे कि अगर ऐसी माँ का लाल मोहन जैसा पुत्र हो, तो इसमें ताज्जुब की कौन सी बात है!

कुछ ही दिनों में जब इसी तरह रुपया इकट्ठा हो गया, तो १८ अप्रैल १६३० को चटगाँव के सरकारी हथियार खाने पर चढ़ाई हुई. लाल मोहन को मास्टर दा ने यह काम सौंपा था कि वह चटगाँव के आस-पास की रेलवे लाइन को उखाड़ दे, जिससे कि बाहर से फ़ौरन ही कोई फ़ौजी मदद यहाँ के अफसरों को न मिल सके. इसके बाद मास्टर दा का इसरार था कि लाल मोहन को अपने घर पर वापस चला जाना चाहिये.

लाल मोहन ने अपना काम बड़ी ख़ूबी के साथ पूरा किया. १८ अप्रैल की रात को १० बजे एक तरफ़ चटगाँव के हथियार खाने पर चढ़ाई हो रही थी और दूसरी तरफ़ लाल मोहन ने अपने दो एक साथियों के सहारे धूम और मंगलकोट की पहाड़ियों के पास की रेल की तमाम पटरियाँ उखाड़ कर फेंक दीं. अपना यह काम पूरा करने के बाद वह चाहते, तो घर वापस जा सकते थे, लेकिन उनको मालूम था दल के जो मेम्बर हथियार खाने पर चढ़ाई करने गये हैं, वह काम पूरा करके जलालाबाद की पहाड़ियों पर अपना मोर्चा

इस लिये लाल मोहन भी जलालाबाद की पहाड़ियों में जा पहुँचे और अपने साथियों से मिल गये.

जलालाबाद की पहाड़ियों में लाल मोहन के साथियों ने अपना मोर्चा बना लिया था और वह उन मामूली हथियारों के साथ ही अंग्रेज़ी फ़ौज का मुक़ाबला कर रहे थे, जो सामने की पहाड़ी पर तोपों और मशीनगनों के साथ जमी हुई थी. मुक़ाबला काफ़ी देर तक रहा, लेकिन आख़िर उस पूरी फ़ौज के सामने नौजवानों की यह टोली कब तक जमती! आख़िर इस लड़ाई में ग्यारह क्रान्तिकारी और सरकारी फौज के चौंसठ सिपाही खेत रहे. बाक़ी क्रान्तिकारी गिरफ़्तार कर लिये गये, जिनमें से एक लाल मोहन भी थे.

इसके बाद मुक़दमा शुरू हुआ. चटगाँव के उस ज़माने के कलक्टर मिस्टर विलिकसन, जो हथियारख़ाने पर हमला होने की ख़बर पाकर जान बचाने के लिये बन्दरगाह में जा छिपे थे, अब इन नौजवानों को ज़्यादा से ज़्यादा सज़ा दिलाने के लिये पूरी तैयारी के साथ मैदान में उतरे. कचहरी आते जाते वक़्त यह नौजवान देशभक्ती से भरे हुए जो नारे लगाते थे, उनको सुनकर मिस्टर विलिकसन को बड़ी झुँझलाहट होती थी. उसी झुँझलाहट में एक दिन उन्होंने लाल मोहन की पीठ पर एक हल्की सी धप जमाकर कहा—"पागल लड़के! शोर क्यों मचाता है?"

लाल मोहन ने पीछे मुड़कर जैसे ही साहब की शक्ल देखी, वह क्रोध से लाल हो गये. हथकड़ियों से जकड़े हुए अपने दोनों हाथों को वह साहब की खोपड़ी पर देही मारना चाहते थे कि साहब वहाँ से भाग खड़े हुए. इस फ़ौरी सूझ बूझ ने उस दिन ठीक वक़्त पर साहब की जान बचा दी.

मुक़दमे में लाल मोहन को ज़िन्दगी भर के लिये कालेपानी की सज़ा सुनाई गई और १५ अगस्त १९३२ की शाम को एक जहाज़ धीरे धीरे

उनकी जन्मभूमि से उनको दूर ले चला. लाल मोहन की उस वक़्त की हालत के बारे में उनके एक साथी ने लिखा है—

"एक झरोखे में लाल मोहन की आँखें अपनी जन्मभूमि की ओर लगी हुई थीं. मैंने देखा उसकी आँखों से आँसू टपक रहे थे. अपनी जन्मभूमि का वियोग लाल मोहन को उसी तरह बेकल कर रहा था, जैसे किसी बच्चे के सामने उसकी माँ की मौत."

अण्डमान पहुँचकर भी नौजवान लाल मोहन के दिल की आग में कोई फ़र्क नहीं पड़ा. अपनी इस जिन्दगी का एक दिन भी उन्होंने ऐसा नहीं बिताया, जिसमें उन्होंने हुकूमत के कानूनों को अपनी राज़ी रज़ा से माना हो. इसके लिये बराबर उनको सजायें मिलती रहीं और एकबार तो उन्होंने ३८ दिन की लम्बी भूक हड़ताल भी की. उस वक्त लाल मोहन एक ऐसे मुरझाये हुए फूल की तरह हो गये थे, जिसमें जिन्दगी वापस आती हुई नहीं दिखाई देती थी. लेकिन परदेशी हुकूमत भी ऐसे बड़े देशभक्त की क़ीमती जान लेने का हौसला नहीं कर सकी और लाल मोहन की शर्तें अण्डमान के अफ़सरों ने ठीक वक्त पर पूरी करके उनकी जान बचा ली. काश! लाल मोहन उसी वक़्त शहीद हो गये होते, तो उनको अपनी आँखों के सामने वह बातें तो न देखनी पड़ती, जिन्होंने इस महान देशभक्त के दिल को छलनी कर दिया था.

आखिर क़ैद के दिन खतम हुए और पूरे १६ साल कालेपानी में बिताकर अगस्त १६४६ में लाल मोहन जेल से बाहर निकले. अब भी उनका दिल आजादी की लड़ाई में हिस्सा लेने के हौसलों से भरा हुआ था. उन्होंने सोच लिया था कि इस बार वह मजदूरों में काम करेंगे, जिससे साम्राजशाही के मुकाबले में उनका एक मजबूत मोर्चा खड़ा किया जा सके. लेकिन सबसे पहिले उन्होंने अपनी उस माँ से मिल आना ज़रूरी समझा, जिसने लम्बे लम्बे सोलह बरस जेल की दीवारों को ताकते हुए बिता दिये थे. जब लाल मोहन यकायक अपनी माँ के सामने जा खड़े हुए, तो कुछ देर न तो माँ बेटे को पहिचान सकी और न बेटा माँ

लेकिन फ़ौरन ही बेटा माँ के पैरों पर लोट रहा था और माँ उसे उठाकर कलेजे से लगाने की कोशिश कर रही थी. "यह राम और कौशिल्या का मिलन था, जिसके बयान में महात्मा बालमीक ने कमाल कर दिया है, फिर भी वह उसकी सही तस्वीर नहीं खींच सके हैं. १६ बरस बाद काले-पानी से लौटे हुए बेटे का मिलन! कौन है, जो उस वक़्त की ख़ुशी की सच्ची तस्वीर शब्दों में उतार सके? पर बेचारी माँ क्या जानती थी कि यह अभागा देश आज हैवानों का, आदमखोरों का देश बन गया है, वरना वह वियोग की आग में जलना मंज़ूर कर लेती और अपने लाल मोहन को वापस कालापानी भेज देती.

कुछ दिनों तक लाल मोहन बरसों से बिछुड़ी हुई अपनी बहिनों व दूसरे रिश्तेदारों से मिलने जुलने में लगे रहे. इसके बाद वह कलकत्ता वापस आना ही चाहते थे कि नोआखाली में आग भड़क उठी. भाई भाई का गला काटने लगा. यह सब इस्लाम के नाम पर किया जा रहा था. उस इस्लाम के नाम पर, जिसमें सबसे बड़ा हक़ पड़ोसी का बताया गया है. लेकिन यह एक नये किस्म का 'इस्लाम' था, जिसमें पड़ोसियों को क़त्ल किया जा रहा था, उनके घरों में आग लगाई जा रही थी और उनकी औरतों को भगाया जा रहा था. लाल मोहन का दिल यह सब देखकर रो उठा और वह सोचने लगे कि क्या जिस देश के लिये उन्होंने अपनी तमाम जवानी जेल के सींखचों के भीतर बिता दी और जिसकी पूजा करते करते उन्होंने बड़ी से बड़ी मुश्किलों को हँसते हँसते सहन कर लिया, उसकी असली तस्वीर यही है.

उस वक़्त नोआखाली के हिन्दुओं ने भागना शुरू कर दिया था. लाल मोहन चाहते तो आसानी से भाग सकते थे लेकिन उन्होंने भागने से इनकार कर दिया और एक शान्ति कमेटी बनाकर काम करने लगे. इस कमेटी के वह ख़ुद ही मंत्री बने और सोलह साल की जेल की भयानक तकलीफ़ों से थके हुए शरीर को लेकर इन्सान को इन्सान बनाने के काम में जुट पड़े. वह जानते थे कि आम जनता और आम मुसलमान इस

मारकाट को नापसन्द करते हैं, लेकिन कुछ लीडरों और कुछ गुण्डों के मुकाबले में आम जनता की चल नहीं पाती. लाल मोहन इस अमन पसन्द जनता को संगठित करके बलवाइयों के खिलाफ एक मोर्चा खड़ा कर देना चाहते थे. इस काम में उनको कुछ कुछ कामयाबी भी मिली और उनके आस पास का इलाका किसी हद तक उस सत्यानाशी आग से बचा रहा. लेकिन इसके नतीजे में गुण्डों की आँखों में लाल मोहन काटे की तरह खटकने लगे. गुण्डों ने यह प्रचार करना शुरू कर दिया कि एक तरफ तो लाल मोहन अमन की बातें करता है और दूसरी तरफ़ चुपके चुपके हिन्दुओं को हथियार जुटा रहा है. ऐसे वक्तों में जनता का दिमाग वैसे ही खराब रहता है, इसलिये इस बात पर यक़ीन भी किया जाने लगा. उधर बाहर के लोगों ने नोआखाली के क़िस्सों को जिस तरह बढ़ा चढ़ाकर बताना शुरू किया, उसका भी जनता पर काफ़ी बुरा असर पड़ा और जो लोग अमन की बातें करते थे, उनके दिल में भी ज़हर भरने लगा. लाल मोहन इन हरकतों से हैरान हो चले. उनको कभी कभी इस बात पर झुँझलाहट होती थी कि नोआखाली के मसले पर यह शोर गुल मचाने वाले यहाँ की हिन्दू जनता की मुसीबतें बढ़ाते ही हैं और खुद कायरों की तरह दूर ही दूर से तमाशा देख रहे हैं. फिर भी वह अपने काम में जुटे ही रहे.

उन दिनों पचासों बहिनों को लाल मोहन के नाम का सहारा था और पचासों खानदान उनकी हिम्मत पर जिन्दा थे. आम मुसलमानों की निगाहों में भी उनकी भारी हिम्मत थी और क्या मजाल कि लाल मोहन के रहते कोई गुण्डा बेजा हरकत कर सके. कई मुसलमान कार्यकर्ता भी लाल मोहन के काम में शरीक थे और उनकी तादाद बढ़ती ही जा रही थी.

पर यकायक एक दिन लोगों ने सुना कि लाल मोहन भी इस गुण्डा-गर्दी के शिकार हो गये. वह किसी गाँव को जा रहे थे कि गुण्डों ने उनको घेर कर मार डाला. इस तरह भारत माता का यह अनोखा लाल

ख़ुद अपने ही देशवासियों के हाथों शहीद हो गया. अभी लाल मोहन को रिहा हुए पूरा एक महीना भी नहीं हुआ था.

अब उस माँ का हाल कौन बयान करे, जिसने अपने लाल के इन्तज़ार में १६ बरस छाती पर पत्थर रख कर काट दिये थे और जो अभी उससे अपने सुख दुख की बात भी अच्छी तरह नहीं कर पाई थी. हमारे अभागे देश ने यह बदला उसकी शानदार क़ुरबानी का दिया था. उस दिन उस इलाके के सभी सच्चे मुसलमानों की गर्दनें शर्म से झुकी हुई थीं.

लेकिन जिनके दिल में इन्सानियत नाम को भी नहीं रह गई थी, वह उसी ढर्रे पर चलते रहे और आज भी उसी ढर्रे पर चले जा रहे हैं. उनमें से ज़्यादातर वह लोग हैं, जो हमेशा मुल्क की आज़ादी का विरोध करते रहे. इसलिये उनके दिल में इस देशभक्त की क़ीमत ही क्या हो सकती थी ? पर जो लाल मोहन और उन जैसे दूसरे देशभक्तों की क़ुरबानियों की क़ीमत समझते हैं, क्या वह इस शहादत से कुछ सबक़ ले सकेंगे ?

— सम्पादक

गले लग कर मरे

अभी हाल की एक खबर है कि बम्बई में एक हिन्दू ने अपने एक मुसलमान दोस्त को आसरा दिया. इससे हिन्दुओं का एक दल भड़क उठा और उसने कहा—'अपने मुस्लिम दोस्त को हमें सौंप दो!' हिन्दू ने अपने दोस्त को सौंपने से इनकार किया. इस पर दोनों दोस्त मौत के घाट उतार दिये गये.* मरते वक्त दोनों एक दूसरे को छाती से लगाये हुए थे. एक जानकार ने मुझे बिलकुल इसी तरह यह खबर सुनाई थी. इस खूँखवारी के बीच इस तरह की यह पहली ही मिसाल नहीं है. पिछले दिनों कलकत्ते में जो खून की नदियाँ बहीं, उनमें भी कई जगह हिन्दुओं ने मुसलमान दोस्तों को और मुसलमानों ने हिन्दू दोस्तों को अपनी जान पर खेल कर आसरा दिया था. इन्सान में देवता या फ़रिश्ते का जो अंश है, अगर उसकी झलक किसी भी वक्त और कहीं भी न दिखाई दे, तो इन्सानियत (मानवता) मर जाय.

बम्बई के बड़े वज़ीर श्री बाला साहब खेर ने बहुत ज़ोरदार शब्दों में दो ऐसे नौजवानों की मिसाल का बयान किया है, जो यह जानते हुए भी कि वह ज़रूर मार डाले जायँगे, एक मुस्लिम भीड़ का गुस्सा ठण्डा करने के लिये दौड़ पड़े थे. मौत को उन्होंने

---

*हमें उम्मीद है कि अगले एडीशन में हम इन दोनों शहीदों ज़िन्दगी के पूरे हालात दे सकेंगे. —सम्पादक

सच्चे दोस्त की तरह अपनाया. ऐसी पाक क़ुरबानी की क़ीमत बे अन्दाज़ा है. कोई हलके तरीक़े से इसका मज़ाक़ न उड़ाये. अगर ऐसी हर एक क़ुरबानी का नतीजा कामयाबी हो, तो जान पर खेल जाना मामूली हंसी खेल हो जायगा. यह घटनायें हमको यही सबक़ देता है कि अगर ऐसे क़िस्से काफ़ी तादाद में हमारे सामने आयें तो मज़हब के नाम पर बेवक़ूफ़ी भरी मारकाट बन्द हो जाय. सबसे ज़रूरी शर्त यह है कि इसमें कहीं दिखावा या नक़ली बहादुरी न हो. हम जैसे हैं, वैसे ही दिखने की कोशिश करें.

नई दिल्ली १५-१०-४६

मोहनदास करमचन्द गान्धी

अलीपुर डिस्ट्रिक्ट जज

(बहेन शकुन्तला प्रभाकर)

अलीपुर के डिस्ट्रिक्ट जज बड़े नेक, समझदार और तजरबेकार आदमी थे उनका खासा बड़ा परिवार था. उनका बंगला एक शान्त हिफ़ाज़त की जगह चिड़िया घर के पीछे था.

सोलह अगस्त छुट्टी का दिन था. लीग की सरकार थी और लीग की ही तरफ़ से हड़ताल थी. जज साहब को उठते ही अखबार पढ़ने का शौक था. जब तक अखबार न पढ़ लें, चाय तक न पीते थे. आज सत्रह तारीख थी. अखबार का इन्तजार था. बार-बार दरवाजे की तरफ जाते और झुंझला कर लौट आते थे. बात क्या है? अभी तक अखबार वाला नहीं आया. इतनी देर तो उसे कभी न होती थी. इतने में उनकी बड़ी लड़की आई. बोली—"चाय तैयार है."

जज साहब—"चाय तैयार हो गई? अभी अखबार तो आया नहीं. अच्छा ठहरो अभी आता हूं."

लड़की—"आज अखबार नहीं आयगा. कल लीग की हड़ताल जो थी."

जज साहब—"अरे हां! याद आया. आज पेपर नहीं आयगा. पहले क्यों नहीं बताया. मेरा इतना वक्त बेकार खराब किया."

लड़की हँसती हुई अपने पापा का हाथ पकड़ कर चाय अन्दर ले गई.

जज साहब बंगाली हिन्दू थे. बंगले के आस पास की बस्ती भी हिन्दू बस्ती थी. सिर्फ़ कुछ छोटे मोटे मजदूर पेशावर मुसलमान फल वाले या ग़रीब धोबी आस पास रहते थे. सोलह तारीख़ अमन से गुज़र चुकी थी. जज साहब को पता तक न था कि शहर में कुछ हुआ है, क्योंकि वह एक अलग स्थान में रहते थे.

जज साहब के बंगले के पीछे उनके खानसामां के घर से लगा एक मुसलमान धोबी का घर था. धोबी के परिवार में आठ दस आदमी थे, कई बच्चे थे, वह उन सफ़ेद पोशों के कपड़े धोकर अपने बड़े परिवार का पेट भरता था.

अचानक हिन्दुओं का एक दल साफ़ सुथरे कपड़े पहिने बड़े शोर शराबे के साथ, हाथों में डंडे, लाठी, तलवार लिये उस ग़रीब मुसलमान धोबी के घर में घुस पड़ा. घर के सभी प्रानी स्त्री, बच्चे, बड़े बूढ़े काँप गये. बात की बात में इस ज़मीन के पर्दे से उनका निशान मिट गया. न जाने कैसे एक पाँच बरस का बालक किसी तरह भीड़ की आखों में धूल झोंकता घर के बाहर भाग निकला.

जज साहब चाय पी रहे थे. उसी वक्त पास से शोर सुनाई दिया. वह चाय छोड़ बाहर भागे. माँ बेटा और सभी उन्हें रोकते रहे पर जज साहब रुक न सके, आ ही तो गए बाहर.

उन्होंने देखा कि एक नन्हा सा पाँच बरस का बच्चा 'बचाओ' 'कोई बचाओ' चिल्लाता उन्हीं की तरफ़ भागा आ रहा है. उसके पीछे पचास साठ का झुंड था. मासूम बच्चा काँपता चिल्लाता छोटी सी जान लिये आँख बन्द किये दौड़ता चला आ रहा है. भीड़ पीछा कर रही है. आवाज़ें आ रही हैं—'मारो साले को, यह मुसलमान है.' 'देखो 'निकल न भागे यह शिकार.'

घबराया हुआ बच्चा जज साहब को आते देख उनकी तरफ़ लपका. 'बचाओ' 'बचाओ' कह कर जज साहब से जाकर लिपट गया. जज साहब ने भी 'आओ बेटा, तुम्हें कोई कुछ नहीं कह सकता.' कहकर गोदी में

उठा लिया. पुचकारा और दिलासा दिया. उसकी फूल सी आँखें भरी हुई थीं. इनकी भी आँखें भर आईं.

अभी जज साहब आँखें पोंछ भी न पाये थे कि भीड़ पास आ गई और शोर मचा मचा कर कहने लगी—'इसे छोड़ दो, इसे छोड़ दो, यह मुसलमान है, यह हमारा शिकार है, इसकी जान लिये बिना हम नहीं रहेंगे.'

जज साहब—"नहीं, मैं इसे नहीं छोड़ सकता. इस नन्हे बच्चे को मार कर क्या लोगे."

भीड़ से आवाजें आईं—"यह मुसलमान का बच्चा है, मालूम है कुछ आपको ? आप तो घर बैठे आराम कर रहे हैं. मुसलमानों ने कितने ख़ून किये हैं, शहर में कितनी लूट मार की है ? इसे छोड़ दो, छोड़ दो, हम इसकी जान लेकर रहेंगे."

बच्चा यह सब देख सुन सहम कर जज साहब से और जोर जोर से लिपटा जा रहा था, मानो वह उनके अन्दर घुस जाना चाहता था. उसकी आँखें डर से बन्द थीं.

जज साहब—"इसने किसी हिन्दू को नहीं मारा, यह बेक़सूर है. यह किसी को मार भी नहीं सकता, किसी को मारेगा भी नहीं."

भीड़—"यह सब हम नहीं सुनना चाहते. छोड़ दो, छोड़ दो, छोड़ो."

बदले के जोश में गरम भीड़ और गरम होती चली गई. इधर इन्साफ़ और जान बचाने के जोश से गरम जज साहब भी और गरम होते गये. शेर की तरह गरज कर बोले—"नहीं, मैं इसे नहीं छोड़ सकता. अब यह मेरा बच्चा है, मेरी गोद में है, मेरा है और मेरा ही रहेगा."

भीड़—"हम कहते हैं, और फिर कहते हैं, इसे छोड़ दो. नहीं तो तुम्हें भी जान से हाथ धोना पड़ेगा."

जज साहब—"हाँ, मुझे मारो, इसे हाथ नहीं लगा सकते."

आवाज़ उठी—"मारो, मारो, बड़ा बना है इन्साफ़ करने वाला.

इस आवाज़ के खत्म होते होते जज साहब के सर पर लाठी का जमा हाथ बैठा और बग़ल में छुरी का वार हुआ. मासूम बच्चा फड़का, काँपा और बेहोश होकर गिर पड़ा.

भीड़ ने उसके साथ क्या किया, कलम नहीं लिख सकती, शैतान भी होता तो आंखें बन्द कर लेता.

'बच्चा बच्चा' कहते हुए उसके धर्म पिता के प्राण पखेरू उड़ गए. पर सफ़ेद पोश पागल भीड़ की ख़ून की प्यास फिर भी न बुझी. आगे बढ़ी, जज साहब के घर में घुस गयी, कोने कोने को छान डाला पर कहीं कोई मुसलमान न मिला फिर भी न प्यास बुझी, न नशा उतरा. आँसू बहाती माँ बेटी से पूछा—"बताओ मुसलमान कहां छिपा रक्खे हैं, बताओ नहीं तो मकान में आग लगाते हैं."

माँ से अब न रहा गया. रोना छोड़ फट पड़ी—"आग लगा दो, हम सबको मार डालो, अब तक यहां कोई मुसलमान नहीं था, अब सौ मुसलमान छिपे हैं, नहीं बतावे. करो जो जी में आये."

भीड़ का रंग बदल गया. वह लौट पड़ी.

परिवार अब दहाड़ मार कर रो पड़ा. अब वह अनाथ था!

जिनको यह घटना मालूम है, उन सबके दिल में यह सवाल उठता है कि हिन्दू धर्म की असली रक्षा किसने की? उस भीड़ ने या जज साहब ने?

महमूद और रमज़ान

(बहेन शकुन्तला प्रभाकर)

अलीपुर के डिस्ट्रिक्ट जज साहब की ही तरह एक और घटना भी मुझे मालूम है, जिसमें दो मुसलमान नौजवानों ने अपने हिन्दू पड़ोसियों को बचाने की कोशिश मे अपनी जान दे दी. यह घटना जिनके साथ हुई, वह हमारे नज़दीकी जान पहिचान के आदमी हैं, इसलिये इस घटना की सचाई का तो सवाल ही नहीं है.

जिनके साथ घटना हुई, उनका नाम मानिक लाल भाई है. पहिले कानपुर में रहते थे, लेकिन कलकत्ते के सेठ लक्खीराम जी की तेल मिल में एक अच्छी नौकरी मिल जाने से कलकत्ते चले आये. मकान न मिलने से कुछ दिन हमारे यहां मेहमान के तौर पर रहे, बाद में १२ अगस्त १९४६ को उन्हें मिल के पास ही, सड़क से लगे हुए एक मकान में रहने भर को जगह मिल गई. उनके घर में कुल चार प्रानी थे. वह खुद, उनकी धर्मपत्नी, एक सोलह बरस की लड़की और एक अठारह बरस का लड़का. इतने प्रानियों के लिये यह जगह काफी थी.

नये मकान में गये हुए चार दिन ही हुए थे, कि १६ अगस्त आ पहुँची. लीग की तरफ़ से हड़ताल का ऐलान हुआ और इस हड़ताल का जोर मानिक लाल भाई के मकान के आस पास काफी था, क्योंकि उस इलाक़े में ज़्यादातर दूकानें मुसलमानों की ही थीं. मानिकलाल जी के मकान के निचले दोनों हिस्सों में भी मुसलमान ही थे.

मकान से लगी हुई एक बनियान की दूकान थी, जिस पर महमूद और रमज़ान दो भाई बैठा करते थे. उनके राजनैतिक खयालात तो लीग की तरफ़ झुके हुए थे, लेकिन उनकी भलमनसाहत रास्ता चलते आदमी को भी मोह लेने वाली थी. १६ अगस्त को सवेरे ही उन्होंने ऊपर आकर मानिकलाल भाई से कहा कि अगर आज शाम तक के लिये आप कहीं चले जावें, तो अच्छा रहेगा. लेकिन मानिक लाल जी बड़े निडर आदमी थे. उन्होंने जवाब दिया—"अरे ऐसी क्या बात है. आप सब लोग हैं ही. फिर हमको क्या खतरा है?"

दोनों भाइयों ने कुछ देर उनसे इसरार किया, फिर चुपचाप वापस चले गये. उनके जाते ही मानिकलाल भाई छज्जे पर कुर्सी डाल कर बाहर का तमाशा देखने लगे.

धीरे-धीरे दोपहर के दो बजे और हवा में कुछ गर्मी सी महसूस होने लगी. तीन बजे के करीब हड़तालियों का एक बड़ा जुलूस निकला. इस जुलूस ने रास्ता चलते हिन्दू मुसाफ़िरों को मारना शुरू कर दिया. कुछ मकानों दूकानों में आग भी लगा दी. कुछ ही देर में इस जुलूस का एक हिस्सा मानिक लाल भाई के मकान के सामने आ पहुँचा. उस वक्त महमूद और रमज़ान दोनों भाई अपनी बन्द दूकान पर बैठे हुए थे. उनको देखकर जुलूस आगे बढ़ गया. अब महमूद और रमज़ान ने ऊपर जाकर मानिकलाल भाई से फिर विनय की कि आप कहीं दूसरी जगह चले जाइये. अभी मौक़ा है और हम आप को निकाल सकते हैं. लेकिन या तो मानिक लाल भाई के सर पर होनी सवार थी और या बाहर निकलने के बजाय उनको घर पर रहना ज़्यादा महफ़ूज़ मालूम हुआ, इसलिये उन्होंने दोनों भाइयों को यह कह कर लौटा दिया कि आपके रहते हमको कोई खतरा नहीं है.

उस वक्त मानिकलाल भाई ने शायद ही यह सोचा हो कि इस ज़रा सी जवाब से दोनों भाई अपने ऊपर कितनी ज़िम्मेदारी समझ रहे हैं.

दोपहरी किसी तरह कटी और शाम होने लगी. क़रीब पाँच बजे मानिकलाल भाई ने महसूस किया कि एक जुलूस फिर उनके मकान की ओर आ रहा है. उनका लड़का और लड़की जुलूस को देखने बाहर छज्जे पर जा खड़े हुए. जुलूस ने भी इन बच्चों को देखा और फ़ौरन ही जुलूस से आवाजें आने लगीं—"यह तो हिन्दू हैं. इनको नीचे लाओ. यह काफ़िर के बच्चे यहाँ कैसे बचे हुए हैं?"

मकान के निचले हिस्से में जो मुसलमान किरायेदार थे, उन्होंने भीड़ को समझाना-चाहा, लेकिन 'मज़हब के दीवाने' कभी ऐसी बेकार की बात नहीं सुना करते! रमज़ान और महमूद उस वक़्त किसी और जगह गये हुए थे, इस लिये भीड़ धड़धड़ाती हुई ऊपर चढ़ गई और दरवाज़े को डंडों से पीटने लगी. यह देखकर मानिकलाल भाई ने दरवाज़ा खोल दिया और कड़क कर बोले—"क्या बात है? इतना शोर क्यों मचाते हो! हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?"

भीड़ में से एक ने चीख़ कर कहा—"पकड़ो साले को, बड़ा शरीफ़ बना फिरता है. मार डालो." लेकिन किसी दूसरे आदमी ने उस गुन्डे का उठा हुआ हाथ थाम कर कहा—"नहीं! इनसे तो पैसा लेना है. मार कर हमको क्या मिलेगा."

मानिक लाल ने पांच सौ रुपये देकर इस भीड़ से अपनी जान बचाई.

भीड़ के वहाँ से जाने के बाद ही महमूद घर लौटा और रास्ते में खोज ख़बर लेने के लिये वह मानिक लाल भाई के भी घर आ पहुँचा. यह घटना सुनकर उसे बहुत दुख हुआ. अब मानिक लाल भाई जाने को तय्यार भी थे, पर अब सवारी मिलना नामुमकिन था. आख़िर यही फ़ैसला हुआ कि अब तो घर में ही बैठा जाय.

रात होते ही महमूद फिर आया और उसने मानिक लाल भाई के घर ही सोने का इरादा ज़ाहिर किया. लेकिन ऐसे बलवे के वक़्त मानिक लाल भाई ने महमूद को उसके ख़नदान से दूर रखना ज़्यादती समझा

और उसे घर वापस भेज दिया. इस तरह जब पूरे कलकत्ते भर में हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के गले पर हैवानों की तरह छुरी चला कर 'अपने अपने धरम की हिफ़ाज़त' कर रहे थे, उस वक्त मानिक लाल भाई और रमजान महमूद के बीच इस तरह की प्रेम भरी खींचातानी चल रही थी, हाला कि दोनों के बीच कोई पिछली गहरी जान पहिचान तक नहीं थी.

यह रात मानिकलाल भाई ने जागते ही काटी. सुबह हुई और ज्यों-ज्यों सूरज चढ़ता गया, त्यों-त्यों 'मारो-काटो' की आवाजें और बेबसों की चीख़ पुकार भी बढ़ती ही गई. आज हिन्दुओं ने भी अपने जौहर दिखाने शुरू कर दिये थे. दलील यह थी कि बलवाई मुसलमानों से अपनी हिफ़ाज़त का सिर्फ यही इलाज है. लेकिन तमाशा यह था कि बलवाई मुसलमान अपने हल्के में घिरे हुए जिन हिन्दुओं को नुक़सान पहुँचा सकते थे और पहुँचा रहे थे, वहाँ इन 'वीर हिन्दुओं' में से कोई झाँकता भी नहीं था और अपने हल्के में घिरे हुए जिन इक्के दुक्के मुसलमानों पर यह अपनी वीरता दिखा रहे थे, वह मुसलमान चाह कर भी हिन्दुओं को क़तई नुक़सान नहीं पहुँचा सकते थे. खुद बलवा पसन्द मुसलमान भी यही चाहते थे कि हिन्दू हल्क़ों में घिरे हुए मुसलमान मारे जायँ, जिससे उन 'गद्दार मुसलमानों' का मुँह बन्द किया जा सके, जो उनको लूटमार करने से मना करते थे. इस वक्त दोनों तरफ़ के गुण्डों के पौबारह थे और इस नायाब मौक़े से वह ज्यादा से ज्यादा फ़ायदा उठा लेना चाहते थे. इसीलिये हिन्दू और मुसलमान दोनों में ऐसी अफ़वाहों का ज़ोर था, जिससे बलवा अपने असली रूप से सौ गुना ज्यादा भयानक हो गया था. यह अफ़वाहें दोनों तरफ के जोश को उभाड़ने में शराब का काम दे रही थीं और जो लोग इन अफ़वाहों पर यक़ीन न करने के लिये समझाते थे, वह सब 'ग़द्दार' क़रार दे दिये गये थे.

इस दिन मानिक लाल भाई के मकान पर फिर एक हमला हुआ और मानिक लाल भाई ने कपड़े और बर्तन देकर अपनी जान बचाई. मानिक लाल भाई समझ गये कि अब जान बचनी मुश्किल हो है.

इसी दिन यानी १७ अगस्त को शाम के पाँच बजे एक भीड़ फिर मानिक लाल भाई के मकान पर पहुँची. दरवाजे पर हथौड़े पड़ने लगे. नीचे के मुसलमान पड़ोसी भीड़ की ख़ुशामद कर रहे थे, लेकिन उनको डॉट दिया गया और वह चुपचाप अलग खड़े हो गये. मानिक लाल भाई ने यह ख़याल करके कि दरवाज़ा तो टूट ही जायगा, ख़ुद ही दरवाज़ा खोल दिया. उनकी सोलह बरस की लड़की अपने आप की हिफ़ाज़त के लिये मानिक लाल भाई के पास आकर खड़ी हो गई. उसे देख कर मज़हब के दीवाने गन्दी से गन्दी बातें करने लगे. मानिक लाल भाई बेबस बने यह सब सुन रहे थे. कुछ क्षणों के बाद गुण्डों ने सलाह की कि पहले इस बुड्ढे को तो ठिकाने लगा दिया जाय, औरतों का बँटवारा पीछे हो जायगा. अब भीड़ ने मानिक लाल भाई को बाहर खींचने की कोशिश की ही थी कि दो मुसलमान नौजवानों ने भीड़ को चीर कर रास्ता रोक लिया और गरज कर बोले—"ख़बरदार! जो किसी ने हाथ लगाया. माल चाहिये तो माल ले जाओ, लेकिन इन बेबस इन्सानों पर हाथ नहीं डाल सकोगे."

यह महमूद और रमज़ान थे, जो मानिकलाल भाई के घर पर हमला होने की खबर सुनकर अपने घरों से भाग कर आये थे.

अब भीड़ मे और महमूद से बहस होने लगी. महमूद क़ुरान शरीफ़ के हवाले पर हवाले दे रहा था कि उसमें अल्लाताला ने किस तरह अपने पड़ोसियों और दूसरे मज़हब के लोगों से अच्छा बर्ताव करने का सबक दिया है और भीड़ हिन्दुओं के ज़ुल्मों की मिसालें दे रही थी. महमूद कहता था कि जिन हिंदुओं ने ज़ुल्म किया है, उनसे चल कर लड़ो और मैं तुम्हारा साथ दूंगा, इस पर भीड़ झल्ला उठी. फ़ौरन कुछ नौजवानों ने लोहे के मोटे डन्डों से महमूद को पीट पीट कर नीचे गिरा दिया. मज़हब के काम में जो रुकावट डाले, भला उसे ज़िन्दा रहने का क्या हक़? कुछ ही देर में महमूद की खून से लथपथ लाश पड़ी हुई थी.

रमज़ान ने अपने भाई को इस तरह से गिरते हुए देखा और समझ

लिया कि अगर उसने भी भीड़ को रोका तो उसकी भी यही हालत होगी. फिर भी भीतर जाकर उसने माँ, बेटे और बेटी को एक कमरे में बन्द कर दिया और ख़ुद उसके दरवाजे पर पैर जमा कर खड़ा हो गया. भीड़ जैसे ही आगे बढ़ी उसने अपने रास्ते में रमज़ान की शक्ल में इस दूसरी दीवार को पाया. लेकिन धरम और दीन के दीवाने कहीं ऐसी मुश्किलों को मुश्किलें समझते हैं ? फ़ौरन ही रमज़ान पर भी वार होने लगे और कुछ ही देर में वह भी अपने भाई से जा मिला. मानिकलाल भाई का सब परिवार अब बाँध लिया गया और उनको नीचे सड़क पर ले जाया गया, जिससे कि उन सबको ज़रा तड़पा तड़पा कर मारा जा सके. कम से कम एक दूसरे के क़त्ल को तो वह देख ही सकें. बहादुरी का जज़्बा इस वक्त अपनी आख़िरी हद पर पहुँचा हुआ था.

मानिकलाल भाई और उनका सब खानदान सड़क पर खड़ा कर दिया गया. अब बहस यह थी कि पहिले किसे ठिकाने लगाया जाय. बाप को या बेटे को ? माँ और बेटी को तो क़त्ल करने का कोई सवाल ही नहीं था, उनको तो सिर्फ़ यह तमाशा दिखाना था. यह बहस किसी फ़ैसले पर पहुँची ही थी कि फ़ौजी लारियों की गड़गड़ाहट गूँज उठी, और गोलियों की आवाजें आने लगीं. बस, इन आवाज़ों का आना था कि मज़हब के दीवाने वीर भाग खड़े हुए. रमज़ान और महमूद के समझाने पर और क़ुरान शरीफ़ के हवालों पर जो नहीं मानना चाहते थे, उनकी बहादुरी का तमाम जोश बन्दूक़ की एक आवाज़ ने ठंडा कर दिया. इस तरह मानिकलाल भाई और उनका खानदान मौत के किनारे पहुँच कर भी बच गया.

फ़ौजियों ने इस खानदान को अपनी लारियों पर चढ़ाया, लेकिन तभी मानिकलाल की बीबी लारी से उतर कर ऊपर की ओर भागीं. फ़ौजियों ने उनको रोकना चाहा तो उन्होंने कहा कि मेरे दो बेटों की लाशें तो ऊपर पड़ी हैं. अरे उनको एक बार आँख भर कर देख तो लेने दो."

फ़ौजियों को दया आ गई और वह पूरे खानदान को ऊपर ले गये.

वहाँ यह खानदान महमूद और रमज़ान की लाशों पर इस तरह बिलख बिलख कर रोया कि कुछ देर के लिए मकान की दीवारें भी पिघलती जान पड़ीं. नीचे के मुसलमान पड़ोसी हैरान थे, कि जब पूरा खानदान बच गया है, तब इस तरह 'हाय हाय' क्यों मचा रहा है. उन्होंने अन्दाज़ लगाया शायद माल के लिये. हाँ सचमुच माल के लिये पर यह तो वह बाद में जान सके कि यह "माल" किस तरह का था और कितना क़ीमती था.

फिर यह खानदान बड़ा बाज़ार के थाने में पहुँचा दिया गया, वहाँ पाँच दिन रहने के बाद उसे एक दोस्त के यहाँ पनाह मिल गई.

आज भी मानिकलाल भाई और उनका पूरा खानदान कलकत्ते में ही है. जब भी सोलह अगस्त आती है, मुसलमानों के ज़रिये बरबाद हुए उस खानदान के दिल में दो मुसलमान नौजवानों के लिये आंसू उमड़ पड़ते हैं, जिनकी वजह से वह आज भी इस दुनिया में हैं. माँ और बेटी तो यह सोच कर ही काँप उठती हैं कि अगर रमज़ान और महमूद अपनी जान देकर उनकी हिफ़ाज़त न करते तो आज उनकी क्या गति होती.

महमूद की दूकान भी आज वहीं पर है. उस पर रमज़ान और महमूद की प्यारी शकलें अब नहीं दिखाई देतीं, पर जब भी वहाँ से निकलती हूँ कोई यह कहता जान पड़ता है—

"बहेन ! मुसलमान कैसे होते हैं और इस्लाम क्या है, इसका अन्दाज़ा उन लोगों से मत लगाना जो उस वक़्त तुम्हारे अज़ीज़ों की जान और इज्ज़त के गाहक हो रहे थे. इस्लाम की तालीम का एक छोटा सा नक़शा हमने अपने खून से खींच दिया है, और सच मानो कि इस्लाम की सच्ची तालीम यही है."

और मुझमें तो ताक़त नहीं कि अपने इन दोनों शहीद भाइयों के इस सन्देशे को मानने से इनकार कर सकूँ.

[नीचे लिखा खत अहमदाबाद के भाई हेमन्त कुमार ने ८ जुलाई १९४६ को बापू को लिखा था—सम्पादक]

"कल के दंगे में श्री वसन्तराव हेगिष्टे और जनाब रजब अली का दंगा रोकने की कोशिश करते हुए एक साथ, एक जगह ख़ून हो गया. पहले वह दंगे को दबाने के लिये रिची रोड (गांधी रोड) की तरफ़ रवाना हुए. रास्ते में उन्होंने देखा कि हिन्दुओं का एक दल किसी मुसलमान का ख़ून करने के लिये उस पर टूट पड़ा है. उन्होंने हमलावर हिन्दुओं से कहा—"पहले हमीं को मार डालो, फिर इन्हें मारना." अपने इन दृढ़ता भरे शब्दों और ऐसे मजबूत रुख की वजह से वह उस मुसलमान को बचा सके. वहाँ से वह सूबा कांग्रेस कमेटी के मंद्र वाले मकान पर पहुँचे. वहाँ उन्हें मालूम हुआ कि जमालपुर में एक हिन्दू मुहल्ले के चारों तरफ़ मुसलमानों की बस्ती है और वहाँ के हिन्दुओं की जान और माल खतरे में है. इसलिये वह मुसलमानों को समझाने चल पड़े. वहाँ दोनों पर खंजरों से सख़्त हमले किये गये और दोनों वहीं काम आये. हिन्दू मुसलमान दोनों का ख़ून साथ ही बहा. श्री वसन्तराव कोई ३२ साल के जवान थे. सन् १९३० में धरासना के हमले के वक़्त से वह कांग्रेस की लड़ाइयों में हमेशा शामिल होते रहे थे. वह हिन्दुस्तानी सेवा दल के एक अगुआ थे. जनाब रजब अली भी भावनगर और धंधूका के एक ख़ास काम करने वाले थे. उन्होंने भी कांग्रेस की लड़ाइयों में ख़ासा हिस्सा लिया था. वह भी हिन्दुस्तानी सेवा दल के मेम्बर थे. उनकी उम्र क़रीब २५ साल की थी.

"इस तरह एक हिन्दू और एक मुसलमान ने हाथ से हाथ मिला कर दंगे का शुद्ध अहिंसक ढंग से सामना किया और अपनी जान क़ुरबान करके दोनों शहीद हुए."

बाबा साहेब वसन्तराव हेंगिष्टे

[अहमदाबाद में जब हिन्दू मुसलमान धर्म और दीन के नाम पर एक दूसरे का गला काट रहे थे और कायरों की तरह अन्धेरी गलियों में छुरेबाजी कर रहे थे, तब दादा वसन्तराव हेंगिष्टे और श्री रजब अली नाम के दो नौजवान दोस्तों ने इस आग को ठण्डा करने के लिये अपने अनमोल प्रानों का दान दिया था. सचाई और अहिंसा की तलवार लेकर यह दोनों जीवन-मरन के साथी अपने प्यारे हिन्दू धर्म और इस्लाम की लाज बचाने के लिये इन्सान का खून बहाने वाले गुण्डों के मुकाबले में अचल रूप से आ खड़े हुए थे और फिर हँसते हँसते शहीद हो गये थे. इन दोनों शहीद भाइयों की कथा वसन्तराव जी की सगी बहेन श्रीमती हेमलता हेंगिष्टे ने अपने आँसुओं से गुजराती में लिखी है, जिसका नीचे दिया हुआ आजाद तर्जुमा विजयगढ़ (अलीगढ़) के एक बुजुर्ग श्री बाबा रूपकिशोर जी जैन ने किया है. अहमदाबाद के दोस्तों ने तो इन शहीदों की याद में गुजराती और मराठी जबान में एक बड़ी किताब निकाली है, जिसमें इन शहीदों के मुत्तलिक़ दोस्तों और अज़ीजों ने इनकी शहादत पर अपनी श्रद्धा (अक़ीदत) के फूल चढ़ाये हैं. हमको चाहिये कि हम इन शहीदों की क़ीमत को समझें और जहाँ जहाँ इस तरह की घटनायें हुई हों, वहाँ पर मुक़ामी तौर पर इसी तरह की किताबें बड़ी तादाद में निकाली जायँ. हमको यह याद रखना चाहिये कि उस घटाटोप अन्धेरे के वक़्त, जब हम हद दर्जे की कमीनी कायरता को बहादुरी, सबसे बड़े पाप को धरम और सबसे बड़ी गद्दारी को देशभक्ती

समझ कर अपने देश, धरम और इन्सानियत की जड़ें तक खोद डाल के लिये तय्यार थे, तब हमारी गालियाँ खाते हुए भी हमको सही रा पर लाने की कोशिश में अपनी जान तक कुरबान कर देना कोई आसा काम नहीं था. यह तो जीते जी अपने को आग में झोंकना था. ऐसी ऊँच कुरबानी और शहादत का जज़्बा इनमें कैसे पैदा हो सका, इसका जवा इन शहीदों की खास तौर पर बाबा साहेब बसन्तराव हेंगिष्टे की याद लिखे गये उनकी बहेन के इस लेख से मिल जाता है, जिससे साबि होता है कि बसन्तराव जी एक बड़े देशभक्त होने के साथ साथ कित बड़े ईश्वर भक्त थे और उनको अपने हिन्दू धर्म पर कितना गहरा यक़ीन और उसके लिये अपने दिल में कितना अभिमान था. बहेन हेमलता जी के इस लेख के लिये मैं उनका एहसानमन्द हूँ.—सम्पादक]

"तीन कार्यकर्ता—दो हिन्दू और एक मुसलमान—दंगा मिटाने के ख़याल से गये और इसी कोशिश में काम आये. मुझे उनकी मौत का दुख नहीं होता, रूलाई नहीं आती. इसी तरह श्री गणेश शंकर विद्यार्थी ने कानपुर के दंगे मे अपनी जान क़ुरबान की थी. दोस्तों ने उनको रोका और कहा था—'दंगे की जगह न जाइये. वहाँ लोग पागल हो गये हैं. वह आपको मार डालेंगे.' लेकिन गणेश शंकर विद्यार्थी इस तरह डरने वाले नहीं थे. उन्हें यक़ीन था कि उनके जाने से दंगा ज़रूर मिटेगा. वह वहाँ पहुँचे और दंगे के जोश में पागल बने लोगों के हाथों मारे गये. उनकी मौत का समाचार सुनकर ख़ुशी ही हुई थी. मैं तो आपको यह समझाना चाहता हूँ कि आप मरने का सबक़ सीख लें तो सब ख़ैर ही ख़ैर है. अगर गणेश शंकर विद्यार्थी, बसंतराव और रज्जब अली जैसे कई नवजवान निकल पड़ें तो दंगे हमेशा के लिये मिट जायँ."

आज के शहीद

श्री वसन्त राव हेंगिष्टे

भैया वसन्तराव हेंगिष्टे की याद में

(बहेन हेमलता हेंगिष्टे)

बसन्तराव को घर के तमाम लोग बाबा साहेब कहते थे और इसमें कोई शक नहीं कि बसन्तराव अक़्ल और धीरज में हम सभी से बढ़ चढ़ कर था भी. आज उनकी याद को उकसाने वाली बहुत सी घटनाओं को नज़रन्दाज करके मैं सिर्फ़ कुछ घटनाएँ लिख रही हूँ.

एक बार हमारी दादी माँ बीमार थीं. उस वक़्त बाबा साहेब जेल में थे. यह बात जून १६३० की है. दादी माँ को बाबा साहेब से बड़ा प्रेम था और साथ ही, बड़ी होते हुए भी, वह उसे बड़ी इज़्ज़त की निगाह से देखने लगीं थीं, क्योंकि बाबा साहेब बहुत ही चुस्त, जोशीले और कट्टर गान्धी भक्त थे. चूँकि बाबा साहेब सत्याग्रह में भाग ले रहे थे, इसलिये बहुत से लोग उनकी बड़ी इज़्ज़त करने लगे थे. एक दिन मेरी तबियत बहुत बिगड़ी. सोचा, दादी माँ शायद इस बार नहीं बचेंगी. दादी माँ कहती थीं—"अब हमारा साधु जल्द ही छूटने वाला है. मुझे कैसी ही तकलीफ़ हो, लेकिन अन्तकाल में तो मुझे शान्ति ही मिलेगी." हुआ भी यही. बाबा साहेब जेल से छूटे नहीं कि दादी माँ का प्रान पखेरू उड़ गया. ऐसा लगा, जैसे बाबा के छूटने की खबर के इन्तज़ार में ही उनके प्रान अटके हुए थे.

बाबा साहेब को दादी माँ क्या, हम तमाम घर के लोग ऐसे ही प्यार और श्रद्धा की नज़र से देखते थे.

दूसरी बात, जो मुझे आज बार बार याद आती है, उस वक़्त की है, जब मैं चार बरस की थी. तब गान्धी जी दान्डी यात्रा को जा रहे थे और उनके साथ जाने वालों में से एक हमारे पिता जी भी थे. लेकिन ऐसी भीड़ में मुझे भला कौन ले जाता? मेरी खुद किसी से कहने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी. लेकिन रात को मैंने बाबा साहेब से डरते डरते पूछा—"क्या मुझे भी कल इस यात्रा को दिखा दोगे?" बाबा साहेब ने तुरन्त मेरी बात मान ली.

दूसरे दिन बाबा साहेब के साथ मैं यात्रा देखने चली, तो आसानी से गान्धी जी के पास तक पहुँच गई. पीछे तो लाखों की भीड़ हो गई. आखिर इतनी भीड़ हो गई कि चलना मुश्किल हो गया. इस पर कठिनाई यह थी कि हमें नदी पार करनी थी, जिसमें काँटे और कंकर पत्थर बहुत थे. फिर भी बाबा साहेब मुझे नदी पार तक ले ही गये.

दूसरों को सुखी देखने और उनकी इच्छा पूरी करने के लिये बाबा साहेब शुरू से ही कभी अपने निजी सुख-दुख, सुविधा-असुविधा का ख्याल ही नहीं करते थे.

जब हम भाई बहन और घर के दूसरे लोग एक साथ बैठकर बात चीत करते थे, तब बाबा साहेब जिस धीरज से हमारी बातें सुनते थे और जिस मीठेपन और अक्लमन्दी से उसका जवाब देते थे, उसकी याद आते ही आज भी मेरा कलेजा टुकड़े टुकड़े होने लगता है.

बाबा साहेब के बचपन की एक घटना भी लिखने लायक है, जिसे याद करके उनकी जिन्दगी में वह खुद और हम सब खूब ही हँसते थे, लेकिन आज तो वह भी हमारी आखों में पानी ही लाती है.

घटना यह है कि हमारे यहाँ एक मास्टर थे जिनकी यह आदत थी कि वह अपने विद्यार्थियों को अजीब अजीब नामों से पुकारते थे, जिससे विद्यार्थी बहुत शर्माते और चिढ़ते थे. बाबा साहेब बचपन में शरीर से बेहद दुबले पतले थे, इसलिये मास्टर साहब उनकी तन्दुरुस्ती का ही मज़ाक़ उड़ाया करते थे और उनको पीटते भी बहुत थे. इस पर बाबा

साहेब को अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने की धुन सवार हुई. जब हम सब उनसे इस बारे में पूछते, तो वह कहते कि छः महीने के भीतर भीतर मुझे इस मास्टर को जरूर पीटना है. इसके लिये अपने शरीर को तन्दुरुस्त कर रहा हूँ. पर बाबा साहेब का यह ख़याल पूरा नहीं हो सका, क्योंकि भगवान् ने मास्टर साहब को यह मियाद ख़त्म होने से पहिले ही, बाबा साहेब से उनकी हिफ़ाज़त करने के लिये अपने पास बुला लिया. लेकिन बाबा साहेब की यह धुन जारी रही और आख़िर में तो उनका शरीर इतना मज़बूत हो गया था कि वह मोटर को अपनी छाती पर से उतार लेते थे.

इसी तरह एक बार उनको तलवार चलाना सीखने की धुन सवार हुई. उसका अभ्यास करते हुए एक बार उनको तलवार का ज़ख्म लग गया. जो उस्ताद उनको तलवार घुमाना सिखाते थे, वह भी उस ज़ख़्म को देख कर सहम गये और उन्होंने डाक्टर को बुलाया डाक्टर ने उनको आराम करने की सलाह दी. लेकिन बाबा साहेब उसी तरह काम करते रहे, जिसे देख कर डाक्टर भी चकित रह गया. बाबा साहेब तब कहा करते थे कि शरीर मजबूत होते ही मेरा मन भी मज़बूत हो गया है.

अगर वह अपने मन में कभी कोई कमज़ोरी पाते थे, तो उस पर उनको बड़ी शर्म महसूस होती थी. एक बार जेल में उनको मलेरिया हुआ. डाक्टरों ने इस पर कुनेन दी. लेकिन बुखार छूटता ही नहीं था. इस पर भी बाबा साहेब ख़ुद ही पाख़ाने वग़ैरह की जरूरतों से फ़ारिग़ हो लेते थे. किसी दूसरे को अपने लिये तकलीफ़ देना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया. लेकिन इसका नतीजा यह हुआ कि उनको सर्दी लग गई और उनको ऐसा महसूस होने लगा कि अब वह अपने घर ज़िन्दा नहीं लौट सकेंगे. यह ख़याल करके एक बार उनकी आखों में आँसू आ गये. लेकिन दूसरे दिन जब बुखार कुछ कम हुआ तब उनको अपने मन की इस कमजोरी पर बेहद शरम आई. इस तरह से अपनी कमज़ोरियों की वह हमेशा कड़ी जाँच पड़ताल करते थे, तभी तो

वह उस भयानक आग में ऐसी आसानी से कूद गये, जैसे फूलों की वेदी पर बैठ रहे हों.

कभी कभी वह बड़ी अनोखी बातें कर दिखाते थे. उसी जेल में होने वाली मलेरिया की ही कहानी है. उसने उनका पीछा जेल से छूटने पर भी नहीं छोड़ा. हमारे घर में डाक्टरी दवा बहुत ही कम आती है और कुदरती इलाज पर ही सबका यक़ीन है. बाबा साहेब का भी इसी ढंग से काफ़ी इलाज हुआ, लेकिन जूड़ी ने पीछा नहीं छोड़ा. इस पर आबहवा बदलने के लिये वह रत्नागिरी चले गये, लेकिन पूरे ढाई महीने तक वहाँ रहने पर भी उनकी सेहत में सुधार नहीं हुआ. आखिर फिर वापस अहमदाबाद आ गये और जब एक दिन इस रोज़ रोज़ की जूड़ी से बहुत परेशान हो गये, तो पलथी मार कर एक पत्थर पर जा बैठे और प्राणायाम करते हुए तमाम रात उसी पत्थर पर बैठे रहे. बस उसी दिन से उनको जूड़ी का आना भी छूट गया.

हमारे दादा बड़े ईश्वर भक्त थे. उनकी इस विरासत को बाबा साहेब ने पूरी तरह संभाला और उसकी हिफ़ाज़त की. दादा जी की किताबों में से 'रामायण' 'महाभारत' वग़ैरह निकाल कर वह बचपन से ही पढ़ा करते थे. लेकिन किसी बात पर आँख मींज कर यक़ीन कर लेने की आदत उनमें नहीं थी. वह जब छोटे थे तो 'रामायण' पढ़ते वक़्त अक्सर पिता जी से, "राम ने सीता को क्यों छोड़ दिया था ?" जैसे सवाल पूछ बैठते थे. हर एक बात को अक़्ल की कसौटी पर कसने की आदत उनमें आखीर तक रही.

हिम्मत तो उनमें ग़ज़ब की थी. सत्याग्रह के ज़माने में मीठानगर की छावनी पर पुलिस ने जब हमला किया, बाबा साहेब निहत्थे ही पुलिस की लाठियों के सामने जम गये. घर में खबर आई कि बहुत चोट लगी है. दादी माँ तो इस खबर को सुन कर रोने लगीं और ईश्वर से प्रार्थना करने लगीं कि हे प्रभो ! इस बालक की रक्षा करना. परोपकार के काम में गया है, सो उसे जीता जागता वापस ले आना."

प्रभो ने प्रार्थना सुन ली और बाबा साहेब को जैसे दूसरी जिन्दगी मिली. वह जब घर वापस आये और कपड़े उतार कर नहाने बैठे, तो चोटों से काले पड़े हुए उनके शरीर को देख कर सबकी आँखों से आँसू बहने लगे. इस पर बाबा साहेब हँसकर बोले—"भला लाठी की मार खाकर स्ट्रेचर पर मज़े में सोजाने में भी कुछ मेहनत पड़ती है. लाठी खाने में तो बड़ा मज़ा आता है और देश के काम की लगन भी बढ़ती है."

बाबा साहेब के स्वभाव की उदारता की भी एक घटना लिख दूँ. एक बार बाबा साहेब की सोने की घड़ी बाबा साहेब के पास रहने वाले एक स्वयं सेवक ने चुरा ली. हमारे मकान में माणिकलाल नाम के एक किरायेदार रहते थे. वह फौरन ताड़ गये कि घड़ी उस स्वयं सेवक ने ली है. लेकिन वसन्तराव के डर से वह उससे कुछ ज़्यादा पूछ ताछ न कर सके. लेकिन जब बाबा साहेब बाहर गये, तब माणिकलाल ने उस स्वयं सेवक के सामान की तलाशी ली और उसके चर्खे में, जहाँ रुई की पूनियाँ रक्खी थीं, वहाँ से घड़ी बरामद कर दिखाई. इसके बाद माणिकलाल ने उस स्वयं सेवक को ख़ूब लानत मलामत की, पर वसंतराव ने उससे एक शब्द भी नहीं कहा. कुछ दिनों बाद बाबा साहेब फिर उसी आदमी को बड़े प्रेम से अपने घर लाये और खाना खिलाया. दूसरों के बारे में वह हमेशा इसी तरह की भावनाएँ जाहिर करते थे.

बाबा साहेब को तरह तरह की कलाओं में भारी दिलचस्पी थी. हमारे यहाँ गणेश जी का त्यौहार मनाया जाता है. सन् १६३० तक बाबा साहेब अपनी गणेश जी की मूर्ति को बड़ी सुन्दरता से सजाते थे. गाने, बजाने, तस्वीरें बनाने, अभिनय करने में उन्होंने खासी तरक्की की थी. क़ुदरती इलाज में उन्होंने अभ्यास किया था और घर में कोई बीमार पड़ता था, तो बड़ी लगन से उसका इलाज वह ख़ुद ही करते थे, जिसमें उनको सौ फ़ीसदी कामयाबी होती थी.

बाबा साहेब को कुश्ती लड़ने का भी शौक़ था. कई अच्छी कुश्तियाँ उन्होंने जीती थीं. कभी-कभी किसी कमज़ोर और मामूली पहलवान को

हिम्मत देने के लिये उससे जान बूझ कर हार भी जाते थे. हमारे देश का बच्चा बच्चा मज़बूत बने, यही लगन उनको दिन रात रहती थी.

घर में जब कोई अछूत आता था, तो वह उसे प्रणाम करते थे. जाति पाति का भेद भाव तो उनके दिल में नाम को भी था ही नहीं. एक बार जेल से एक पठान को वह ऐसा दोस्त बना कर निकले कि अगर पठान से कोई उनकी बाबत पूछता, तो पठान बताता कि मैं इनका नौकर हूँ. वह जिससे एक बार मिल लेते थे, बस वह उनका ही हो जाता था.

आख़िर ७ जुलाई १९४६ का दिन भी आया. शहर भर में उन दिनों भारी मार काट मच रही थी. लेकिन रज्जब भाई के साथ बाबा साहेब बाहर को चले. किसी ने पूछा—"कहाँ जा रहे हो ?" तो बाबा साहेब ने कहा—'मेरे रास्ते में रोड़े मत बनो. जहाँ मेरी ज़रूरत है, वहाँ मैं ज़रूर जाऊँगा.'

क़रीब साढ़े पाँच या छह बजे बाबा साहेब घर लौटे. वह पानी पीने के लिये आये थे. मैं अभागिन पूछ बैठी—"काँग्रेस हाउस में क्या पानी पीने को नहीं था ?" इसका कोई जवाब नहीं मिला. मैंने देखा कि वह फिर चल देने के लिये चप्पल पैर में डाल रहे हैं.

इसके घन्टे भर बाद सात-साढ़े-सात बजे यह दिल दहलाने वाली ख़बर मिली, जिसे सुन कर हम सबने सर पीट लिया. हम सब फ़ौरन अस्पताल पहुँचे. वहाँ हमने देखा कि उनका सोने का सा शरीर निर्जीव हुआ पड़ा है. चेहरे पर न कोई डर था न रंज. आँखें खुली हुई थीं और होठों पर मुस्कराहट थी, मानो मौत के साथ भी हँसी मज़ाक चल रहा था.

इस तरह हमारा बाबा साहेब हमेशा के लिये हमसे बिछुड़ गया. वह हँसते हँसते सदा के लिये सो गया और हम अभागे ज़िन्दगी भर रोने के लिये बाक़ी रह गये.

रज्जब भाई

(बहेन हेमलता हेगिश्टे)

रज्जब अली को हम रज्जब भाई कहते थे. वह सिर्फ़ एक महीना ही हमारे घर पर रहा था, लेकिन इतने थोड़े वक्त में ही वह हम सब में ऐसा हिल मिल गया था कि हम सब उसे अपने घर के ही आदमियों में शुमार करते थे. इसके बाद वह अपने एक दोस्त के यहाँ चला गया, जो नतरंगपुरा में रहते थे. लेकिन हमारे यहाँ वह उसी नियम से आता था. अक्सर जब वह खाना खाने बैठता, तो "यह चीज किस तरह पकाई है, इसमें कौन कौन से विटामिन हैं ?' वगैरह सवाल किया करता था, जिसमें खासा हँसी मजाक रहता था.

हम सब कभी कभी रात को एक साथ बैठकर गप-शप किया करते थे. रज्जब भाई की आदत थी कि उस गप शप के बीच वह गणित के पेचीदा सवाल पूछा करता. जब हम लोग उन सवालों का जवाब न दे पाते तो उनको बड़े अच्छे ढंग से समझाता था. फिजूल की गप शप में भी हमको कुछ न कुछ सीखते रहना चाहिये, शायद इसी भाव से वह ऐसा करता था.

सपनों के बारे में वह बड़ी दिलचस्पी से बात करता था. इस बारे में उसने काफ़ी पढ़ा और काफ़ी विचार किया था. इसलिये जब सपनों के बारे में वह बातचीत करने लगता, तो ऐसा मालूम होने लगता था कि जैसे कोई बहुत बड़ा पंडित बोल रहा है. सपने क्यों आते हैं, उनका

प्रतिज्ञा

शचीन दा—

आँखों के आगे से तेरी चमकीली सूरत खिसक गई,
पर दिल के कोने में घुस कर वह आज और भी चिपक गई.
थी चाह निराली एक स्वर्ग का राज बसाने की भारी,
बन गई तुम्हारी कुरबानी उस राज महल की ही ताली.

हाथों में लेकर फूल और आंखों में यह आँसू भर कर
ायेंगे सब मिल कर शहीद की,

आयेगा, इस अनुपम पावन समाधि पर.
जो लगा दिया है तूने अपने खून से,
यह लाल तिलक हम लोगों के माथे पर,
उसे कभी मिटने नहीं देंगे-
रक्खेंगे सर पर आँखों पर.

—प्रताप कुमार बसु

[शहीद शचीन्द्रनाथ के एक साथी प्रताप कुमार बसु ने ऊपर दी ई कविता बंगला में लिखी थी. उसका हिन्दुस्तानी अनुवाद भाई गवान मिश्र ने किया है, शहीद के खून का हमारे माथे पर जो टीका गा हुआ है. उसे हम कभी नहीं मिटने देंगे. यही प्रतिज्ञा हम सबको ी आज के दिन करनी चाहिये—सम्पादक]

हमारी जिन्दगी पर क्या असर पड़ता है, या क़ुदरत के साथ उनका क्या ताल्लुक है, यह सब बातें वह बड़ी सफ़ाई के साथ इस तरह समझा देता कि एक मामूली बच्चा भी समझ जाय. उसकी बुद्धि को देख कर हम सब ताज्जुब करते थे.

हमारे घर आते ही वह पहिले हमारी एक बहेन बिजुली को तलाश करता था, क्योंकि वह बड़ी शैतान थी. इसके बाद ऐसी खींचातानी और भाग दौड़ होती कि हँसते हँसते पेट फूल जाता था. यह बात याद रखने की है कि रज्जब भाई में हमेशा खिलाड़ी पन रहा. खुद हँसने और दूसरों को हँसाने के लिये ही जैसे वह हमारे घर आता था.

२४ अप्रेल १६४६ को हमारे घर जब बसन्त का त्यौहार मनाया गया, तो उसमें रज्जब भाई को भी बुलाया गया. उस दिन वह रात को भी घर पर ही रहा और हम सब बड़ी देर तक बातचीत करते रहे. उस वक़्त हममें से कौन जानता था कि कुछ ही दिनों में हम अपने इस प्यारे भाई की सूरत देखने के लिये भी तरसा करेंगे और वह हमेशा के लिये हमारी आँखों से ओझल हो जावेगा.

आज भी उसकी याद हमारे दिल में टीस सी पैदा कर देती है.

प्रतिज्ञा

शचीन दा—

आँखों के आगे से तेरी चमकीली सूरत खिसक गई,
पर दिल के कोने में घुस कर वह आज और भी चिपक गई.
थी चाह निराली एक स्वर्ग का राज बसाने की भारी,
बन गई तुम्हारी कुरबानी उस राज महल की ही ताली.

हाथों में लेकर फूल और आंखों में यह आँसू भर कर
आयेंगे सब मिल कर शहीद की,

प्रतिज्ञा, इस अनुपम पावन समाधि पर.
जो लगा दिया है तूने अपने खून से,
यह लाल तिलक हम लोगों के माथे पर,
उसे कभी मिटने नहीं देंगे-
रक्खेंगे सर पर आँखों पर.

—प्रताप कुमार बसु

[शहीद शचीन्द्रनाथ के एक साथी प्रताप कुमार बसु ने ऊपर दी हुई कविता बंगला में लिखी थी. उसका हिन्दुस्तानी अनुवाद भाई भगवान मिश्र ने किया है, शहीद के खून का हमारे माथे पर जो टीका लगा हुआ है. उसे हम कभी नहीं मिटने देंगे. यही प्रतिज्ञा हम सबको भी आज के दिन करनी चाहिये—सम्पादक]

श्री शचीन्द्र नाथ मित्र

[शचीन मित्र मर कर भी अमर हो गये हैं. ऐसी मौत पर दुख की जगह आनंद मनाना चाहिये.—बापू]

१५ अगस्त १९४७ को मिलने वाली हिन्दुस्तान की आजादी को महफ़ूज़ रखने के लिये भारतमाता के जिस पुत्र ने सबसे पहिले अपने को शहीद किया था, वह थे श्री शचीन्द्रनाथ मित्र. १ सितम्बर १९४७ से कलकत्ते की सड़कें जब हिन्दू-मुस्लिम बलवों से एक बार फिर भयानक हो उठीं और डर, बेएतमादी व हत्याओं की आग वहाँ धधक उठी. तब शचीन्द्रनाथ इस आग को बुझाने के लिये खुद ही इसमें कूद पड़े थे.

श्री शचीन्द्र की यह कहानी जितनी दुख भरी है उससे भी ज़्यादा वह हमारे देश को गौरव देने वाली है. भाई-भाई के मिलाप की जो फ़िज़ा १५ अगस्त को देखने में आई थी, वह एक पखवारा बीतते न बीतते फिर आपसी फूट और मारकाट में बदल चली थी. शान्ति और प्रेम के अवतार गान्धी जी को फूट परस्तों के एक गिरोह ने बेइज़्ज़त करने की कोशिश करके तमाम देश के माथे पर कलंक का टीका लगा देने की जहालत दिखाई थी. कलकते की जनता अपने बेबस भाइयों और पड़ोसियों की हत्या के पाप भरे काम में पूरी तरह डूब चली थी. बापू ने इस जनता को सही रास्ते पर लाने के लिये अनशन शुरू कर दिया था.

आपसी फूट और मारकाट से हाथ में ही मिली हुई आजादी को

श्री शचीन्द्र नाथ मित्र

का शान हो जाय, जो वह उनके हाथों में दे गये हैं और श्री शचीन्द्र के अजीजों और रिश्तेदारों के साथ तमाम देश अपने इस शहीद की सही कीमत जान सके.

जिला चौबीस परगना (बंगाल) के मजीलपुर-जयनगर गाँव में ता० ३१ दिसम्बर १९०६ शुक्रवार के दिन श्री शचीन्द्र का जनम हुआ था. श्री शचीन्द्र के पिता श्री नरेन्द्र नाथ मित्र अपने जमाने के एक मशहूर अटर्नी थे, लेकिन श्री शचीन्द्र जब सिर्फ़ चार बरस के थे, तब उनके पिता चल बसे और शचीन्द्र के लालन पालन का तमाम बोझ उनकी पूजनीय माता जी पर आ पड़ा, जो एक योग्य महिला थीं.

श्री शचीन्द्र को शुरू की तालीम टाउन स्कूल में मिली. इस ज़माने में ही आपने स्टडी सर्किल खोले थे, लाइब्रेरी कायम की थी और हाथ के लिखे अख़बार भी निकाले थे. सन् १९२५ में 'प्रवेशिका' का इम्तहान पास करके आपने कलकत्ते के स्काटिश चर्च कालेज में अपना नाम लिखा लिया. इस जमाने में आपने विद्यार्थियों के संगठन में काफ़ी काम किया. एक तरह से तो यह भी कहा जा सकता है कि बंगाल में विद्यार्थी संगठन की नींव डालने वालों में एक आप भी थे. इस सिलसिले में स्काटिश चर्च कालेज में आपने 'स्टूडेन्ट यूनियन' क़ायम की और उसके पहिले सदर आप ही चुने गये. १९२९ में जब साइमन कमीशन हमारे देश में आया था, तो उसके बायकाट में कलकत्ते के विद्यार्थियों ने जो भारी हिस्सा लिया था, उसके अगुआ आप ही थे. पुलिस के दमन के खिलाफ़ कलकत्ते के विद्यार्थियों ने जो भारी हड़ताल की थी, उसके नेता भी श्री शचीन्द्र ही थे, जिसके नतीजे में दूसरे चार सौ विद्यार्थियों के साथ आपको भी कालेज से निकाल दिया गया था. इस पर तमाम बंगाल के विद्यार्थी समाज ने भारी नाराजगी ज़ाहिर की थी. इस तरह आप ज़िन्दगी के हर लमुहे में इनक़लाब का बिगुल बजाते रहे थे.

उस ज़माने में स्काटिश कालेज के प्रिन्सिपल मिस्टर क्वायरन थे, जो श्री शचीन्द्र को एक ज़हीन विद्यार्थी समझकर बड़ी मुहब्बत की नज़र

से देखते थे. उन्होंने श्री शचीन्द्र की माँ को एक खत लिखा जिसमें उन्होंने सलाह दी कि आप शचीन्द्र को माफ़ी माँगने के लिये समझायें, जिससे वह फिर कालेज में दाखिल हो सके. लेकिन शचीन्द्र की माँ ने जवाब दिया—

"मेरे बेटे ने कोई क़सूर तो किया नहीं है, फिर मैं उससे माफ़ी माँगने को क्यों कहूँ."

और ऐसी माँ की कोख से शचीन्द्र जैसा बहादुर लड़का हुआ, तो इसमें ताज्जुब ही क्या !

स्काटिश कालेज से निकाले जाने के बाद श्री शचीन्द्र रिपन कालेज में दाखिल हुए और वहाँ से सन् १६२६ में आपने इज़्ज़त के साथ बी० ए० पास किया.

इसी जमाने में आप एस० एन० मुखर्जी एएड कम्पनी में ट्रेनिंग क्लास में दाखिल हो गये. इस कम्पनी के ट्रेनिंग क्लास में दाखिल होने वाले विद्यार्थियों में सबसे पहिले दल में आप भी एक थे. इसके साथ ही आपने आल बंगाल स्टूडेन्टस यूनियन की नींव डाली और उसकी वर्किंग कमेटी के एक मेम्बर रहे. इसके अगले साल आप यूनियन के प्रेसीडेन्ट चुने गये. इस तरह उस छोटी से उम्र में ही बंगाल भर के विद्यार्थियों ने अपना सबसे बड़ा नेता आपको चुना था.

१६३० में जब गान्धी जी ने कानून तोड़ने की लड़ाई छेड़ी, तब आपकी स्टूडेन्ट्स यूनियन ने ऐसे लिटरेचर को पढ़ कर क़ानून तोड़ने का फ़ैसला किया, जो सरकार ने ज़ब्त कर लिया था. श्री० जे० एम० सेन गुप्त ने इस काम के लिये खास तौर पर विद्यार्थियों में प्रचार किया था. इस फ़ैसले के मुताबिक़, कालेज स्क्वायर में श्री शचीन्द्र की सदारत में एक सभा हुई, जिसमें बंगाल के सबसे बड़े उपन्यास लिखनेवाले स्वर्गीय शरत् बाबू का मशहूर उपन्यास 'पाथेर दावी' जिसे बंगाल सरकार ने ज़ब्त कर रक्खा था, सरे आम पढ़ा गया. इसी जुर्म में आप गिरफ़्तार कर लिये गये और आपको क़ैद की सज़ा दी गई.

जब आप जेल में ही थे, तब आपकी माता जी का इन्तकाल हो गया. श्री शचीन्द्र के ऊपर यह कोई मामूली चोट नहीं थी, क्यों कि बचपन से ही श्री शचीन्द्र ने सिर्फ माँ का दुलार ही पाया था. लेकिन श्री शचीन्द्र इस चोट को हँसते हँसते झेल गये. क़रीब छै महीने के बाद ज्यादा बीमार हो जाने की वजह से आप जेल से छोड़े गये.

इसके बाद १६३१ की कराची कांग्रेस में आप शरीक हुए और वहीं से आपने कुल हिन्दुस्तान में विद्यार्थियों के संगठन का काम शुरू किया. इसके साथ ही आपने यूथ लीग के संगठन में भी हिस्सा लेना शुरू किया और बंगाल की यूथ लीग का बोझ अपने सर पर उठा लिया.

इस ज़माने में आपने बंगाल के बहुत से हिस्सों का दौरा किया और इससे संगठन के काम में बहुत मदद मिली, और इसके साथ ही जनता ने पहिली बार यह महसूस किया कि श्री शचीन्द्र कितना अच्छा बोलते हैं और कितनी मेहनत से अपना काम पूरा करते हैं. 'इंडिया टुमारो' नाम के एक अखबार में सहायक सम्पादक भी आप इसी ज़माने में रहे.

१६३२ में जब फिर क़ानून तोड़ने का आन्दोलन चला, तो आप और आपके बड़े भाई, दोनों ही कैद कर लिये गये. आपकी 'समिति' के दफ्तर पर भी सरकार ने ताला डाल दिया और बहुत सा सामान पुलीस उठाकर भी ले गई. क़रीब एक साल बाद आप रिहा किये गये और तब आपने फौरन ही 'बंगाल सेवा दल' का संगठन शुरू कर दिया. इसी ज़माने में आपकी वह ट्रेनिंग पूरी हो गई, जो आप मुखर्जी एन्ड कम्पनी में ले रहे थे. इसकी ऊँची तालीम पाने के लिये आप १६३३ में इंगलैंड चले गये. इंगलैंड पहुँचकर आपने हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के संगठन का काम किया. इस ज़माने में आल इंडिया यूथ लीग ने लन्दन के लिये आपको अपना नुमायन्दा चुन दिया था. इंगलैंड रहते वक्त आप अक्सर बंगाल के 'भावी काल' और अंग्रेजी के 'वायस आफ़ दी यूथ' अखबार में लेख लिखते रहते थे.

कुछ दिन बाद आप लंदन के 'लंदन स्कूल आफ़ इकानिमिक्स' में

दाखिल हो गये, लेकिन इस स्कूल की पढ़ाई खत्म करने से पहिले ही आप बीमार पड़ गये और कई महीने तक स्विटज़र लैंड के एक अस्पताल में पड़े रहे.

१९२४ में आप हिन्दुस्तान लौटे और यहाँ आकर आपने बीमा का काम शुरू किया. कुछ दिनों तक आप बीमा के बारे में निकलने वाले एक अंग्रेज़ी अखबार के सम्पादक रहे. इसके बाद आप एक विलायती बीमा कम्पनी में एजेन्टों के इन्सपेक्टर के पद पर रहे. अपनी इस नौकरी के साथ ही आप 'फ़ील्ड' नाम का अंग्रेज़ी अखबार भी निकाला करते थे. अमिताभ मित्र के नाम से उस अखबार का सम्पादन भी आप ही करते थे. कम्पनी ने जब इस अखबार पर एतराज़ किया, तब आपने अखबार बन्द कर दिया. इसके बाद आपने इस कम्पनी की नौकरी छोड़ दी और एक देशी बीमा कम्पनी में पहुँच गये. इस बार 'फ़ील्ड' अखबार को 'फ़ील्ड मैन' के नाम से आपने निकाला और सम्पादक की जगह अपना असल नाम ही दिया.

१९३८ में कुछ दोस्तों की मदद से आपने 'सिटी आफ़ कलकत्ता' नाम से एक बीमा कम्पनी खोली और बीमा एजेन्टों की तालीम के लिये एक स्कूल भी क़ायम किया.

धीरे धीरे श्री शचीन्द्र बीमा की दुनिया के नेता हो गये और हिन्दुस्तान की सभी बीमा कम्पनियों ने आपको अपना नुमायन्दा चुना. इसी हैसियत से 'बीमा क़ानून' की मुखालफ़त में आप एक बार लार्ड लिनलिथगो से मिले. लार्ड लिनलिथगो पर आपकी बहस का इतना असर पड़ा कि बीमा कम्पनियों की माँगें मंज़ूर कर ली गईं.

यूरोप से लौटने के बाद इस ज़माने तक आपने हिन्दुस्तान की राजनीति से एक दम हाथ खींच लिया था और रहन सहन भी आपका बिलकुल ही साहबी हो गया था. लेकिन सन् १९३९ में आप जैसे अपनी इस खामोशी से खुद ही घबरा उठे और भारतमाता की सेवाओं के इतने दिनों के क़र्ज़ को मय सूद के चुकाने के लिये उनके प्रान तड़फड़ाने

लगे. इस बार गान्धीजी के उसूलों की रोशनी ने उनको अपनी ओर खींचा और आप गान्धी जी की लिखी हुई किताबों का गहरा मुताला करने लगे. एक बार कुछ शंकाओं को आपने गन्धीजी के पास लिख भेजा. जवाब में गान्धीजी ने लिखा—

"मेरी किताबों को सावधानी से पढ़ो. फिर भी कोई शंका रहे, तो दो महीने बाद मुझे लिखना."

१६४० में जब जाती सत्याग्रह शुरू हुआ, तब पिछली मिनिस्ट्री के जमाने में जो फ़सली लोग कांग्रेस में भर गये थे, वह कांग्रेस से हटने लगे. श्री शचीन्द्र उस जमाने में कांग्रेस से अलग रहे थे, लेकिन इस वक्त वह उससे अलग कैसे रह सकते थे. इस ज़माने में दिन रात उनके दिल में एक आग सी धधका करती थी और वह अक्सर अपने मिलने जुलने वालों से कहा करते थे—

"हमने देश के लिये क्या किया है ? देश में फैले हुए इस अंधेरे को मिटाकर हम इसे रोशन क्यों नहीं कर पा रहे हैं ? देश में गुमराह नौजवानों को हम क्यों नहीं समझा पा रहे हैं ? कांग्रेस के पाछे तमाम देश को खींच लाने में हमें कामयाबी क्यों नहीं मिल रही है ? हममें ऐसी क्या कमी है ?"

असल में वह इन सवालों का जवाब खुद अपने दिल से चाहते थे.

इसके बाद शचीन्द्र नाथ १६४२ के आन्दोलन में कूद पड़े. उन्होंने इस तूफान के वक्त विद्यार्थियों की बागडोर अपने हाथ में ली. वह कालेजों और होस्टलों में घूम घूम कर विद्यार्थी समाज को भारत माता की पुकार सुनाने लगे. कुरबानी की दावत लेकर उन्होंने घर घर के दरवाजे खटखटाये. कलकत्ते के विद्यार्थियों ने इस तूफान में जो हिस्सा लिया था, वह सब शचीन्द्र की कोशिशों का ही नतीजा था. आखिर १८ अगस्त को वह पकड़ लिये गये और दमदम जेल में पहुँचा दिये गये.

दमदम जेल में उनकी जिन्दगी में एक गहरा परिवर्तन हुआ और उनका मन धर्म शास्त्रों में ज़्यादा रमने लगा. वह दिन रात गीता, सतशती, योग वशिष्ट, उपनिषद्, पुराण, क़ुरान वग़ैरह रूहानी किताबों में ही डूबे रहने लगे. अपनी रोज़ाना की जिन्दगी को भी वह इसी साँचे में ढालने की कोशिश करने लगे. इससे उनका दिल एक स्वर्गीय रोशनी से जगमगा उठा और इस जपतप से उनके मन में शक्ति और ख़ुद एतमादी के अनगिनती झरने फूट उठे, जो उनके मन में नये नये अंकुर पैदा करने लगे.

इसी जेल की ज़िन्दगी में उन्होंने डाक्टर राधाकृष्णन की 'कल्कि' और मिस्टर रेमार्क की 'फ्लट-साम' नाम की किताबों का बंगला में तर्जुमा किया.

यह सब करते हुए भी आप अपने जेल के साथियों की बड़ी भारी ख़िदमत किया करते थे. नौजवान साथियों को उनकी जरूरत की चीजें दिलाना, उनके पढ़ने के लिये अच्छी किताबें मँगवाना, उनके इम्तहान दिलाने का इन्तज़ाम करना, उनके लिये व्याख्यान माला का सिलसिला चलाना वगैरह न जाने कितनी जिम्मेदारियाँ श्री शचीन्द्र ने अपने सर ले रक्खी थीं. इसीलिये साथी क़ैदी आपको 'दमदम यूनीवर्सिटी' का वाइस चान्सलर कहा करते थे.

१९४४ में आप जेल से छोड़े गये, लेकिन साथ ही यह बन्दिश लगा दी गई कि आप कलकत्ता से बाहर नहीं जा सकते. जेल में ही श्री शचीन्द्र को यह पक्का यक़ीन हो गया था कि अगर देशवासियों में स्वराज्य की सच्ची ख़्वाहिश पैदा नहीं की गई और काँग्रेस के कार्यकर्ताओं को गान्धी जी के उसूल अच्छी तरह नहीं समझाये गये, तो इस देश का उद्धार होना मुश्किल ही है. फ़िरक़ा परस्ती के उभार के वक़्त जिस तरह बहुत से काँग्रेसी इस दलदल में ख़ुद जा फँसे और फूट फैलाने वाले फ़िरक़ा वाराना संगठनों से हमदर्दी रखने लगे थे, उससे यह साबित होता है कि

उस दूरन्देश सच्चे देशभक्त ने असलियत को कितनी सचाई के साथ महसूस कर लिया था.

इसी जमाने में उनके दिल में यह भी खयाल पैदा हुआ कि उनको सिर्फ़ सियासी कामों में ही नहीं लगा रहना चाहिये. वह मुख़तलिफ कामों में हाथ बँटाने लगे. इस सिलसिले में उन्होंने समाज की जो क़ीमती सेवाएँ कीं, उनकी वजह से दूसरे दूसरे हलके के लोग उनकी तरफ़ खिंचने और उनके असर में आने लगे. इस काम के लिये श्री शचीन्द्र को सिर्फ़ तीन साल का वक़्त मिल सका लेकिन इस छोटे से ज़माने में ही उन्होंने जनता का हित करने वाली कितनी ही नई संस्थायें खोल दीं और कितने ही नये काम शुरू कर दिये. सच बात तो यह है कि इन तीन बरसों में ही शचीन्द्र पूरी तरह खिले और उनके दिल और दिमाग़ की ताक़त अपने बेहतर से बेहतर रूप में इसी ज़माने में जनता के सामने आई.

१९४४ में शचीन्द्र 'बंगीय छात्र संसद्', जो बंगाल के विद्यार्थियों का सबसे बड़ा संगठन है, के सभापति चुने गये. एक लम्बे अरसे के बाद विद्यार्थियों को अपना प्यारा पुराना नेता फिर मिल गया. उनका सभापति बनना था कि 'संसद्' में नई जान पड़ गई. अपने मीठे स्वभाव के कारन शचीन्द्र बाबू विद्यार्थियों और नौजवानों के बीच बड़ी इज़्ज़त और प्यार की नज़र से देखे जाते थे. कभी शचीन्द्र बाबू अपनी भावुकता के उभार में ऐसी बातें कह जाते थे कि वह सुनने वालों के दिल पर अमिट अक्षरों में लिख जाती थीं. एक बार उन्होंने अपने साथियों से रुँधे हुए गले से कहा था—

"भाइयो ! माता का रिन चुकाओ. जिस माँ के प्यार दुलार में पल कर तुम इंसान बने हो, उसकी हालत पर तो ग़ौर करो. सभी देशों में वहाँ के नौजवान ही देश की भलाई के कामों में आगे बढ़ कर हिस्सा ले रहे हैं. तुम भारत की जवानी को कलंक न लगा देना !"

१९४३ में जो भयानक दमन हुआ, उसके असर से देश बेजान हो

गया था. जनता उदास और डरी हुई थी. ऐसी हालत में शचीन्द्र ने जेल से छूटने वाले कई साथियों को लेकर कलकत्ता कांग्रेस वर्कर्स यूनियन बनाई, इसके कुछ दिन बाद गांवों के लिये कांग्रेस कार्यकर्ता तय्यार करने की ग़रज़ से उन्होंने 'कांग्रेस सेवा संघ' का संगठन किया. इसका नतीजा यह हुआ कि इधर उधर बिखरे हुए परेशान कांग्रेस कार्यकर्ताओं को एक रोशनी मिली और वह फिर काम में जुट गये. घोर अन्धकार में भी श्री शचीन्द्र इसी तरह रोशनी की कोई किरन पैदा कर देते थे.

कांग्रेस के प्रचार काम के सिलसिले में शचीन्द्र ने महसूस किया कि हमको साहित्य लिखने वाले, चित्रकार, मूर्ति बनाने वाले, गायक, नर्तक और अभिनेता (ऐक्टर) वग़ैरह सभी तरह के कलाकारों को कांग्रेस के हल्के में लाना चाहिये. उनका कहना था कि कांग्रेस की रहनुमाई में आज़ादी की जो वेदी तय्यार हो रही है उससे दूर खिसक कर कोई नहीं रह सकता. आजादी की लड़ाई की झलक हमको हिन्दुस्तान की हर एक चीज से मिलनी चाहिये, क्या मूर्तियाँ, क्या लिटरेचर, क्या हमारे ड्रामे, सिनेमा और क्या हमारे शादी ब्याह इन सबसे इतना तो ज़ाहिर होता रहना ही चाहिये कि हिन्दुस्तान इस वक़्त आज़ादी की लड़ाई में लगा हुआ है और हमारा सबसे बड़ा फ़र्ज उसमें मदद देना, उसमें हिस्सा लेना है. इस तरह शचीन्द्र के हृदय की एक एक धड़कन आठों पहर देश की आजादी के सुर ही बजाती थी.

एक दिन उन्होंने अपने यह ख़यालात मास्टर अनाथ गोपाल सेन के सामने रक्खे. उनकी सलाह से और कुछ दूसरे साहित्यकारों के सहयोग से दिसम्बर १६४४ में 'काम्रेस साहित्य संघ' क़ायम करने में शचीन्द्र को सफलता मिली. इस संघ की पुकार पर देश के अनेकों लेखक और कवि भारतमाता के आँगन में इकट्ठे हो सके। श्री अतुल चन्द्र गुप्त, सजनीकान्त दास, सुबोध घोष, देश-विदेशों में मशहूर चित्रकार नन्द लाल बोस, विदेशी चित्रकार मूर हाउस, सुनीतिपाल, प्रो० इन्द्र दुगड़, सुकृति सेन और मशहूर नाचने वाले प्रहलाद दास व और न जाने कितने

छोटे बड़े कलाकार इस संघ के झंडे के नीचे आकर आज़ादी की लड़ाई में तन-मन से योग देने लगे.

शचीन्द्र नाथ की दिन रात मेहनत ने, इन देश सेवी कलाकारों के इस मिलन और संगठन को एक भारी ताक़त बना दिया. १६४६ के फ़रवरी के महीने में काँग्रेस साहित्य संघ की कोशिशों से राष्ट्रीय चित्रों की पहिली नुमायश हुई. काग्रेस के सालाना जलसे पर नन्दलाल बोस के बनाए हुए सुन्दर चित्रों को कलकत्ते की जनता शायद पहिली बार देख सकी. इन चित्रों में यह दरसाया गया था कि भारत के सात लाख गाँवों की नई ज़िन्दगी और तरक़्क़ी ही स्वराज का असली मक़सद और उसकी सही तस्वीर है. इसके बाद तस्वीरों की और भी नुमायशें की गईं. गान्धी जी के उसूल, हिन्दुस्तान के सभी फ़िरक़ों का भाई चारा, देश के शहीदों का इतिहास और इसी तरह की दूसरी चीज़ों और मसलों पर इन नुमायशों की तस्वीरों में बड़ी ख़ूबसूरती और बड़े पुर असर तरीक़े से रोशनी डाली गई थी. १६४६ के जनवरी के महीने में श्री. शचीन्द्र ने राष्ट्रीय तस्वीरों की एक बहुत बड़ी नुमायश की, जिसमें तस्वीरों के सहारे हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का पूरा इतिहास दिखाया गया था.

चित्रकारी की ही तरह ड्रामों और फ़िल्मों व गीतों के ज़रिये देशभक्ती का प्रचार करने की तरफ़ भी शचीन्द्र ने अपना ध्यान लगाया. इससे बंगाल में बहुत से ड्रामाटिक क्लब खुले. कितने ही पुराने राष्ट्रीय गीत फिर जनता की ज़बान पर ताज़ा हो उठे और बंगाल के सुबह शाम उनकी मीठी लय में गूँजने लगे. ऐसे बहुत से गीतों की राग रागनियाँ भी उन्होंने तय्यार कराईं और इन गीतों के संग्रह भी शचीन्द्र की कोशिशों से किताबी शकल में निकले, जिनको जनता ने बेहद पसन्द किया. इन कामों में शचीन्द्र की इतनी ज़्यादा लगन थी कि वह क़रीब क़रीब हर एक इतवार को किसी न किसी गाँव में गीतों या चर्खे का दंगल रख देते थे. यही दंगल एक अच्छी सभा का काम भी दे जाता था, जिसमें आये हुए

लोग श्री शचीन्द्र के देशभक्ती में डूबे हुए भाषणों को सुन कर मुग्ध हो जाते थे और अक्सर लोग वहीं सभा में उनके सामने यह वादा करते थे कि आगे से वह भी देश के काम में कुछ न कुछ वक्त ज़रूर देंगे. इस तरह शचीन्द्र ने सैकड़ों नये लेकिन सच्चे कार्यकर्ता गाँवों से निकाले थे.

इसी बीच और भी कितनी ही नई नई संस्थायें शचीन्द्र ने क़ायम कीं और कितनी ही संस्थाओं से उन्होंने अपना सम्बन्ध क़ायम कर लिया. बालीगंज राष्ट्रीय सेवा संघ, बारकोल डाँगा, गोबर-डाँगा, उत्तर पाड़ा वग़ैरह मे जितने भी नौजवानों के समाज थे, उन सब में उनकी रैठ पैठ थी और वहाँ के लोग इनको अपना भला चाहने वाला एक सच्चा देशभक्त समझते थे. इधर उधर बिखरे हुए कार्यकर्ताओं की तालीम के लिये श्री शचीन्द्र ने मास्टर अनाथ गोपाल सेन की देख रेख में एक स्कूल भी चलाया और इसका ताल्लुक बहुत से संगठनों के ज़रिये चलाई जाने वाली गाँवों की रात पाठशालाओं से कायम किया.

१६ अगस्त १६४६ को कलकत्ते में जो भयानक बलवा शुरू हो गया था, ऐसा मालूम होता है कि श्री शचीन्द्र को उसका आभास पहिले ही हो गया था. इसीलिये इस बलवे से कुछ ही दिन पहिले से उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रचार में ही अपनी तमाम ताक़त लगानी शुरू कर दी थी. इसके लिये वह दोनों फिरकों की मिली जुली सभायें करते थे और दोनों फ़िरकों के नेताओं के दस्तखत कराके एकता की अपीलें निकलवाते थे. लेकिन बलवा न रुक सका, क्योंकि इसकी जड़ें बहुत ज्यादा गहरी पड़ चुकी थीं और फूट व जोश से भरी हुई ओछी बातें जनता के दिमाग पर जल्दी असर कर जाती हैं. लेकिन शचीन्द्र ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी.

शचीन्द्र ने महसूस किया कि कलकत्ते में होने वाले अगस्त के बलवे का दूसरा दौर पूरबी बंगाल में चलाया जावेगा, इस लिये कुछ दोस्तों को लेकर वह मैमनसिंह, चटगाँव, कोमिल्ला, नोआखाली वग़ैरह गये. '१६ अगस्त से पहिले और उसके बाद' नाम से उन्होंने एक किताब छपवाई थी, जिसके साथ कॉंग्रेस साहित्य संघ की किताबें और

एकता का प्रचार करने वाली तस्वीरों के साथ वह इन गाँवों में दरवाज़े, दरवाज़े पहुँच कर एकता का अलख जगाते फिरे. घर में आराम कुर्सी पर लेट कर नेताओं को गालियाँ देने के शौक़ीन भाई शायद कहेंगे, "कैसा पागलपन था ! इससे बलवा रोक लिया क्या ?" वह नहीं जानते कि यह एक ऐसी ही दलील है, जैसे कोई यह कहे कि धरम की किताबें और रिषी मुनी व पंडित लोग फ़ज़ूल ही नेक चलनी का और सदाचार से रहने का उपदेश देते हैं, इससे दुनिया का पाप रुक गया क्या ? यह साफ़ है कि ऐसे लोगों की इस तरह की दलीलों का जवाब कुछ भी नहीं हो सकता.

१६४६ के नवम्बर दिसम्बर में जब नोआखाली में जानबूझ कर आग भड़काई गई, तब शचीन्द्र त्रिपुरा और नोआखाली की सीमा पर बसे हुए हेमचर नाम के एक स्थान में अछूत भाइयों की सेवा में लगे हुए थे. इस इलाक़े के चारों तरफ़ भयानक बलवों की आग जल रही थी और किसी भी हिन्दू का वहाँ रहना ख़तरे से ख़ाली नहीं था, लेकिन श्री शचीन्द्र ने अपनी जगह से हटने से इन्कार कर दिया. वह उस ज़माने में भी मुसलमानों के गाँवों में बेधड़क चले जाते थे और उनको अपने हिन्दू पड़ोसियों की हिफ़ाज़त के लिये समझाते बुझाते थे. उस इलाक़े के तमाम मुसलमान उनकी बड़ी इज़्ज़त करते थे और इसी लिये श्री शचीन्द्र को किसी हद तक अपने काम में कामयाबी भी मिली. शचीन्द्र के काम में सबसे बड़ा रोड़ा अटकाने वाले वह हिन्दू लीडर थे, जो हिन्दुस्तान के मुख़तलिफ़ हिस्सों में नोआखाली का बदला वहाँ के मुसलमानों से लेने के लिये उकसाते फिरते थे, लेकिन उस इलाक़े में घिरी हुई हिन्दू जनता की खोज ख़बर लेने के लिये वह उधर को ओर झाँकते भी नहीं थे. ऐसे लीडरों की तक़रीरें उस इलाक़े के गुन्डे मुसलमान लीडर ख़ूब नमक मिर्च लगाकर वहाँ के मुसलमानों को सुनाते थे, जिससे शचीन्द्र जो कुछ उनको समझाते थे, उसका असर बहुत कम हो जाता था. इसके बाद शचीन्द्र फिर नये सिरे से उनको

समझाते थे और फूट परस्त मुसलमान लीडर फिर उनकी दलीलों के खिलाफ़ वहाँ की मुसलमान जनता को भड़काते थे. बस इसी तरह यह कशमकश काफ़ी दिन तक चलती रही, जिसके बीच जमे रहना शचीन्द्र जैसे साहसी आदमी का ही काम था. लेकिन शचीन्द्र ने मौत से डरना तो सीखा ही नहीं था.

इसी ज़माने में शचीन्द्र की जान पहिचान बापू से हुई और बापू ने उनको हिम्मत देते हुए कहा था—

"तुमको काम करते रहना होगा, हार मान लेने से कैसे बनेगा."

१९४७ के मार्च में शचीन्द्र कलकत्ते लौटे, तो इस देशभक्त का दिल आपस की ख़ूँरेज़ी से दाग दाग था. जो बातें कभी ख्याल में भी नहीं आ सकती थीं, वह उनको आँखों से देखनी पड़ी थीं. कोई हलके दिमाग का आदमी होता, तो इस हालत में हिन्दू फ़िरका परस्ती के रंग में रंग जाता. इससे जनता से इज़्ज़त भी मिलती, पैसे भी मिलते और हज़ारों आदमी उनको कन्धों पर घुमाये फिरते. लेकिन जिस आदमी ने हिन्दू धरम के शास्त्रों का इतनी गहराई से मनन किया हो और उनके ही मुताबिक़ अपने को ढालने की कोशिश की हो, वह ऐसी गलती कैसे कर सकता था ? वह जानते थे कि जो कुछ हुआ है, उसमें दोष न हिन्दू का है, न मुसलमान का है, बल्कि फ़िरक़ा परस्ती का है. बस वह फ़िरका परस्ती के खिलाफ़ ऐसे नौजवानों का संगठन करने में जुट गये, जो कठिन से कठिन समय में भी अपनी जगह पर अटिग रह सकें. उस वक़्त ऐसा संगठन कर लेना मामूली बात नहीं थी, क्योंकि लोग एक दूसरे के खिलाफ़ गुस्से में भरे हुए थे एकता का नाम सुनते ही जनता गालियाँ देने लगती थी और जो लोग मारकाट व इसी तरह की दूसरी चीज़ों का "अपनी हिफाज़त' के नाम पर प्रचार करते फिरते थे, समाज की नेतागिरी उन लोगों के हाथों में थी. लेकिन शचीन्द्र हिम्मत हारने वाले आदमी नहीं थे. सभाओं में और आपसी बातचीत में वह अपने

उसूल का निडर होकर प्रचार करते थे. उसी ज़माने में उन्होंने बंगाल टीचर्स कान्फ्रेन्स में लेकचर देते हुए कहा था—

"आप लोग आगे आइये. उन लोगों की मदद कीजिये, जो देश को सचमुच ऊंचा उठाना चाहते हैं, और नौजवानों व बालकों के दिमाग़ में फ़िरका परस्ती का जो ज़हर भर दिया गया है, उसे धोने और साफ़ करने में जुट जाइये."

शचीन्द्र की यह अपील बेकार नहीं गई और डाक्टर अमिय चक्रवर्ती व श्रीमती सुजाताराय जैसे विद्वान लोगों ने उनको सहायता देना मंजूर किया और उनकी पूरी तरह मदद दी.

शचीन्द्र ने हेमचर में जो ख़ून ख़राबी देखी थी, वह दिन रात उनको बेचैन किये रहती थी. वह महसूस करते थे कि यह नफ़रत और दुश्मनी व बुरेवाजी हमको कायर और बेशर्म बनाए दे रही है. बदला लेने के नाम पर हम जानवर बने जा रहे हैं और इससे पूरे देश का विनाश होता चला जायगा. अपनी इन भावनाओं का प्रचार करने के लिये श्री शचीन्द्र ने कई नाटक लिखने वालों से प्रार्थना की कि वह इस मसले पर एक पुरअसर नाटक लिख दें, लेकिन वह लोग टालमटूल करते रहे. आख़िर शचीन्द्र ने ख़ुद ही एक नाटक लिख डाला. उन्होंने कहा—"यह ठीक है कि अगर कुछ देर इन्तज़ार किया जा सकता, तो उन कलाकारों का लिखा हुआ नाटक कहीं ज़्यादा पुरअसर और जानदार होता. लेकिन ज़रूरत तो आज है. इन्तज़ार का वक़्त अब हमारे पास कहाँ है? जो काम कोई न करे, वह काम करने के लिये मैं तय्यार हूँ!" इस तरह शचीन्द्र को पल भर को भी चैन नहीं था, जब उनके साथी उनके तेज़ क़दमों का साथ नहीं दे पाते थे, तब भी वह आगे बढ़ते ही जाते थे. इन्सानियत की पुकार पर वह किसी का भी इन्तज़ार करने के लिये खड़े नहीं रह सकते थे.

जब १५ अगस्त १९४७ की तारीख़ नज़दीक आने लगी, तो शचीन्द्र सोचने लगे कि हमारी आज़ादी का रूप क्या होगा! आज़ादी की देवी

हमारी जनता से क्या माँगेगी ? वह अपनी इन भावनाओं को जनता में फैलाने के लिये पोस्टर तय्यार कराने लगे. इसी तरह के उन्होंने गीत भी लिखवाये. एक गीत की कुछ कड़ियाँ हैं—

"शिथिल बन्धन, टुटिल शृंखल,
नूतन प्रभाते के तोरा जाबिबल.
एखन बहुप्राण चाइजे बलिदान,
राखिते मार मान स्वागत वीर दल."

यानी—"इस नये प्रभात में कौन चलते हो, बोलो ? माँ की इज्जत को बचाने के लिये अनगिनत कुरबानियों की जरूरत है. वीरो ! तुम्हारा स्वागत है."

जून १९४७ में शचीन्द्र ने 'संगठन' नाम से एक अख़बार निकाला, जिसमें अपना पहिला सम्पादकीय लेख लिखते हुए उन्होंने लिखा था— "आज एक नये किस्म की पुकार हुई है. जुग जुग की साधना से खुश होकर राष्ट्र देवता आशीर्वाद दे रहा है. उस आशीर्वाद को लेने की हिम्मत किसमें है ? इस आशीर्वाद लेने और उसका पालन करने की हिम्मत देश में कौन करेगा ? संगठन करने वालों के नाम से आज तक जो अपना परिचय देते रहे हैं, आज उनके इम्तहान का वक्त है. आज उनकी आत्मा, धीरज और अपने उसूलों के लिये वफ़ादारी का इम्तहान होने वाला है !"

उन्होंने इस तरह का एक संगठन बनाया. १९-२० जुलाई को कार्यकर्ताओं की एक सभा हुई और एक संगठन बनाने की स्कीम बनी. इसके कनवीनर शचीन्द्र बनाए गये.

३१ अगस्त १९४७ को कलकत्ते के देश बन्धु पार्क में होने वाली एक सभा में लेक्चर देकर अपने दोस्तों के साथ शचीन्द्र लौट रहे थे. यकायक उन्होंने कहा—"देखो, अहिंसा पर मेरा पूरा यक़ीन है. लेक्चर-

भी देता हूँ, लेकिन जब तक इस पर अमल करते हुए जनता नहीं देखेगी, तब तक सिर्फ लेक्चरों पर वह यक़ीन नहीं करेगी. हमें और ऊँचा उठना होगा, और भी एक इम्तहान देना होगा."

इतवार को उन्होंने यह कामना की और सोमवार को वह पूरी भी हो गई. १ सितम्बर सन् १६४७ को कलकत्ते में अकस्मात बलवा हो गया. 'छात्र संसद्' के किसी मेम्बर ने 'फ़ील्डमैन' के आफ़िस में इसकी इत्तिला शचीन्द्र नाथ को दी. सुनते ही शचीन्द्र अपने तीन साथियों को लेकर बाहर निकल पड़े. रास्ते में कुछ मुसलमान भी, जो उनके मिशन से हमदर्दी रखते थे, उनके साथ हो लिये. अब यह दल नारे लगाता हुआ आगे बढ़ा. 'ना ख़ुदा मसजिद' के पास बलवा होने की खबर सुनकर शचीन्द्र उधर ही चले. कैनिंगस्ट्रीट और चितपुर रोड पर मुसलमानों के एक दल ने उनको आगे बढ़ने से जबरदस्ती रोकना चाहा और शचीन्द्र व उनके दो साथियों को छुरों से घायल कर दिया. शचीन्द्र के साथी मुसलमानों ने शचींद्र की हिफ़ाजत के लिये हद दरजे की कोशिश की, लेकिन वह बेकार ही गई. शचीन्द्र नाथ के पेट में छुरे का घाव था. आखिर उनके साथी मुसलमान किसी तरह खींच खाँच कर उनको गुण्डों की भीड़ से बाहर निकाल सके और बड़ी हिम्मत के साथ उनको एक लारी में मेडिकल कालेज अस्पताल में ले आ सके. शचीन्द्र को जिस तरह वह यहाँ तक लाये, यह सिर्फ़ उनकी ही हिम्मत थी.

अस्पताल में ज़िन्दगी की आख़िरी घड़ियों में शचीन्द्र ने आख़ीरी मिलन के लिये आने वाले दोस्तों से कहा था—

आज मुझे बहुत ख़ुशी है. इतनी ख़ुशी मुझे कभी नहीं मिली.

"जिस बड़े काम में हम घायल हुए हैं, उसको दाग न लगने देना दोस्तो! बंगाल के नौजवानों और विद्यार्थियों से मेरी यह प्रार्थना कह देना कि शचीन्द्र तुम्हारे हाथों में माँ की इज्जत बचाने का काम छोड़ कर गया है."

३ सितम्बर बुधवार को सुबह के वक्त इस बहादुर देश भक्त और माँ के इस अनोखे लाल ने आखिरी हिचकी ली. बापू उस वक़्त अनशन किये हुए थे.

फिर भी उन्होंने शचीन्द्र की मौत की खबर पाते ही उनकी पत्नी को हिन्दुस्तानी में एक खत लिखा, जिसमें बापू ने लिखा था—

"सचिन मित्र मर कर अमर हो गये हैं. ऐसी मौत पर दुख मनाने के बजाय आनन्द मनाना चाहिये. आप उनके क़दमों पर चल कर उनके प्रति रहने वाले अपने प्यार को जाहिर कर सकती हैं."

कुछ दिनों बाद बापू भी उसी रास्ते चल दिये जिस रास्ते उनका यह प्यारा शिष्य गया था.

आज भी मैं कलकत्ते के ऐसे बहुत से 'शूरवीरों' को जानता हूँ, जिन्होंने बलवों के दिनों में दूसरे फ़िरक़े के किसी रास्ता चलते हुए बेबस मुसाफिर या घिरे हुए पड़ौसी पर हाथ साफ किया था. ऐसे लोग बड़ी बेशर्मी से अपने साथियों में बैठकर आज भी अपनी इस बहादुरी का बखान करते हैं, लेकिन जिनके आँखें हैं और दिमाग़ है, वह समझते हैं कि असली बहादुरी उन बेबसों की हत्या में थी या शचीन्द्र की तरह लोगों को बचाने के लिये जान बूझ कर आग में कूद पड़ने में. ऐसे लोग भी हैं, जो शचीन्द्र को एकता के काम में लगा देखकर उसे 'गद्दार' कहते थे और उसे हिन्दू धर्म का दुश्मन बताते थे. लेकिन मैं जानता हूँ कि शचीन्द्र ने अपने प्रान देकर भी हिन्दू धर्म को बचा लिया. 'बदला लेने के नाम पर' बेक़सूर लोगों की हत्या करने वाले कायर जब अपने को 'हिन्दू' कहते हैं तो मुझे अपने 'हिन्दू' होने पर शर्म आने लगती है, लेकिन जब तक शचीन्द्र जैसे नौजवान हिन्दू जाति में हैं तब तक हिन्दू धर्म पर मेरी श्रद्धा अचल है, अडिग है.

कभी कभी रात के सन्नाटों में मुझे शचीन्द्र का वह आखिरी सन्देश सुनाई देता है, जो उसने जिन्दगी की आखिरी घड़ियों में कलकत्ते के

विद्यार्थियों और नौजवानों को मुखातिब करके तमाम देश को या हर एक देश भक्त को दिया था और मैं सोचता हूँ कि शचीन्द्र की आत्मा आज भी हमारे जवाब के इन्तज़ार में है.

[यह लेख श्री शचीन्द्र नाथ मित्र के एक नजदीकी दोस्त श्री निरंजन सेन गुप्त के एक लेख के सहारे लिखा गया है, जिसका हिन्दी तर्जुमा श्रीयुत भगवान जी मिश्र ने करने की कृपा की थी—सम्पादक]

शचीन्द्र नाथ मित्र

(लेखक श्री अतुलचन्द्र गुप्त)

शचीन्द्र नाथ का नाम बहुत दिनों से सुना था. तालिब इल्मी के ज़माने से ही उनकी देशसेवा का थोड़ा बहुत हाल भी जानता था. कांग्रेस साहित्य संघ के सिलसिले में उनसे जान पहिचान भी हुई. वह इस संगठन के क़ायम करने वाले और सेक्रेट्री थे. वह ऐसे मेहनती थे जो थकान का नाम भी नहीं लेते. उनसे आमने सामने की पहिचान होने पर मैं ताज्जुब से भर गया. मेरा खयाल था कि शुरू से मुल्क के लिये काम करने वाले और खास कर नौजवान विद्यार्थियों के हेल मेल में रहने वाले इस आदमी में कम से कम नाम पाने की खाहिश तो होगी ही. पर यह चीज़ तो उनमें ढूंढ़े भी न मिली. देश के ऊपर क़ुरबान होनेवाले इस आदमी की ज़िन्दगी देश की आम पब्लिक की ज़िन्दगी से जुदा किस्म की होगी, मेरा यह अन्दाज़ भी ग़लत साबित हुआ. उनके लिये ऐसा करना नामुमकिन था. ज़िन्दगी की यह सादगी ही उनकी असली खूबी थी. तभी तो हर रोज़ बिना शानशौकत के वह मुल्क का काम करते रहते थे. लोग उनकी सादगी पर इस क़दर फ़िदा थे कि अनजान आदमी भी उनके हुक्म को टालना पसन्द नहीं करता था. उनकी खुशमिज़ाजी, नरमी और मिठास से उनके जानने वाले बेहद खुश थे. उनकी कामयाबी की भी शायद यही वजह थी. देश के काम को वह अपना ही काम समझते थे.

बापूजी के विचारों ने उन पर गहरा असर डाला था. हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों की गुलामी से बचाने के लिये गांधीवाद को ही वह सबसे अच्छा तरीक़ा मानते थे. महात्मा गांधी ने आज़ाद भारत की जो तस्वीर खींची थी वह उनको पूरे तौर पर पसन्द थी.गांधी जी के उसूलों के सांचे में उनकी आदतें बंध गई थीं. इसके साथ ही वह रवीन्द्र नाथ के विचारों के भी क़ायल थे. उनकी देशसेवा सिर्फ सियासी ही नहीं थी बल्कि चित्रकला, साहित्य और संगीत की तरक़्क़ी भी उनके ज़रिये हुई. तरह तरह के कामों को निभा लेने की कैसी खूबी उनमें थी, यह बताना मुश्किल है. १५ अगस्त १९४७ को भारत की एक निराली तस्वीर मुल्क के आगे पेश करने के खयाल से ही उन्होंने 'संगठत पत्रिका' का निकालना शुरू किया था. यह हमारी बदनसीबी है कि ज़रूरत के मौक़े पर यह बहादुर सिपाही हमसे बिछुड़ गया. मरने का जो नमूना उन्होंने पेश किया है, मालूम नहीं उससे देश का भला होगा या नहीं. इतिहास का चढ़ाव उतार जान सकना मुश्किल है. लेकिन शचीन्द्र नाथ मित्र का बड़प्पन, उनकी क़ाबलियत और क़ीमत में इससे कुछ फ़र्क़ नहीं आ सकता. उनकी ज़िन्दगी अपनी रोशनी से रौशन और अपने कामों से जगमग थी.

फ़िरका परस्ती को वह बहुत नापसन्द करते थे और उसे मिटाने के लिये ही वह मर मिटे. उनकी ज़िन्दगी में जो सादगी थी वह उनकी मौत में भी कायम रही. किसी की कुछ शिकायत नहीं. सिर्फ़ उनके गुज़रने पर एक ही बात बार बार खटकती है कि ऐसा दूसरा आदमी तो कोई और दिखाई नहीं देता !

———

श्री स्मृतीश बनर्जी

[हिज़ एक्सलैन्सी श्री कैलाशनाथ काटजू गवर्नर पच्छिमी बंगाल का वह भाषण जो उन्होंने ३१ नवम्बर १६४८ को बाली (कलकत्ता) में शहीद स्मृतीश की मूर्ती पर से पर्दा उठाते हुए दिया था.]

आज हम शान्ति और अमन के उस सिपाही की याद ताजा करने के लिये इकट्ठे हुए हैं, जिसने इस कलकत्ता जैसे बड़े शहर में बसने वाली अलग अलग जमातों में प्रेम, शान्ति और आपस में रवादारी बनाये रखने की लगन में अपनी जान तक क़ुरबान कर दी. उन लोगों को, जो अपना होश हवास खो बैठे थे, स्मृतीश बनर्जी बिना किसी स्वार्थ या इनाम इकराम की ख़्वाहिश के, इन्सानियत का पाठ पढ़ाने गया था. पिछले बीस बरस से बल्कि बचपन से ही उसने शान्ति कायम करने के लिये अपने आप को देश की सेवा में अर्पण कर रखा था. इसके लिये वह मैदान में उतरा. उसने अन थक कोशिश की. उसकी मौत बिलकुल मेरे दोस्त गणेश शंकर विद्यार्थी जैसी थी, जो सन् १६३१ में कानपुर के फ़िरक़ावाराना फ़साद में शहीद हुए थे. वह एक शानदार मौत थी. बंगाल के इतिहास में स्मृतीश बनर्जी का नाम अमर रहेगा और जैसा कि गांधी जी ने अपने संदेसे में कहा था "इस तरह की शानदार मौत के लिये किसी को रंज नहीं करना चाहिये." देश को जरूरत है और गांधी जी ने कहा था "मुझे जरूरत है कि हजारों स्मृतीश बनर्जी जैसे काम करने वाले आगे बढ़ें" आज हम उस महान् पुरुष की यादगार के लिये खड़ी कर रहे हैं ताकि हम उसे भूल न जायँ और

और नसल में फ़रक़ कुछ मानी नहीं रखते, क़ानून की नज़र में हर शहरी का जान व माल बिना किसी भेद भाव के प्यारा समझा जायगा. हर शहरी को अपना जीवन बिताने और अपने ईश्वर अल्ला की पूजा बंदगी करने की आज़ादी और बराबर के अधिकार होंगे. यही हमारे जैसे आज़ाद और रवादार देश में होना चाहिये. हमारे महात्माओं और शास्त्रकारों का भी यही कहना है. एक सच्चे हिन्दू के लिए यह सबसे बढ़कर फ़खर की बात है कि उस का मज़हब दूसरे सब मज़हबों की इज़्ज़त करता है और उनका आदर करना सिखाता है. एक हिन्दू के लिए पूजा बंदगी का हर तरीक़ा उसे भगवान के नज़दीक ले जाता है. सोच विचार और पूजा बंदगी की आज़ादी ही तो हमारे जीवन की रूह है. किसी भी इन्सानी समाज या मजहब के नज़दीक किसी आदमी को खुदा के नाम पर अपाहज कर देने या मार डालने से बढ़ कर और कोई पाप नहीं है. मुझे भरोसा है कि कलकत्ता शहर के अमन और शांति के शैदाई इस मामले में अपने फ़र्ज़ को पहिचानेंगे. वह हिन्दुस्तान के सबसे बड़े शहर के वासी हैं. जो कुछ यहाँ होगा उसी का रंग यहीं और जा खिलेगा और इन दिनों जब कि वह हवा जिसमें हम साँस लेते हैं, इन शक्कों और बेएत-बारियों के कारण ज़हरीली हो चुकी है, यह बदले लेने के सपने मँहगे पड़ेंगे. इसलिए हमारी बड़ी ज़िम्मेदारियाँ हैं. मेरे इतना कह देने से कुछ फ़रक़ नहीं पड़ता कि सरकार थोड़ी या बहुत गिनती वाली जातों के बुनियादी शहरी हक़ों में फ़र्क़ करती है या नहीं. आज क़ानून को क़ानून की इज़्ज़त करने वाले हर शहरी की हिफ़ाज़त करनी होगी. किसी भी मज़हब का कोई भी आदमी बिना किसी दबाव या दबदबे के अपने विचारों को सबके सामने रख सकता है. क़ानून को भंग करने वाला किसी भी मज़हब का क्यों न हो, भले ही ऊँचे दरजे का हो, उसे मुनासिब सज़ा मिलेगी ही. एक आदमी के बुरे कामों की सज़ा सारी जमात ही क्यों भुगते और न कोई कभी यह वहम या गुमान करे कि कुछ आदमियों के कासी करतूतों का बदला बच्चों से लिया जायगा. बल्कि जैसा मैं कह

चुका हूँ, सरकार तो हिन्सा का सिर कुचलने को हमेशा तय्यार है लेकिन इस बात की ज़िम्मेदारी का बोझ तमाम बिरादरी पर है. हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई या पारसी कलकत्ता में एक बड़े घराने की तरह आबाद हैं और उन्हें एक खानदान के आदमियों की तरह रहना चाहिये. किसी एक हिन्दू या मुसलमान के कई सौ मील की दूरी पर बैठकर किसी ग़लती के कर देने का नज़ला कहीं और दूर मासूम और अमन पसंद लोगों पर गिरे, भला यह कहाँ का इन्साफ़ हुआ ? यह तो जहालत, ना समझी और जानवर पना है. यही सच भी है. हम इस बात को भूल जाते हैं और इस भूल की क़ीमत हमें दुख, मुसीबत, खून और आँसूओं से चुकानी पड़ती है. आओ आज हम इस बात को हमेशा के लिए गिरह में बाँध लें. इतने बड़े हिन्दुस्तान की आबादी अलग अलग धर्मों से बनी है और सारी जनता एक होकर एक बड़े राज के लिए मिलकर सेवा करने में जुटी हुई है. और जब तक किसी शहरी में देश की सची सेवा करने की लगन है उसके साथ भाई चारे का बरताव होना ही चाहिये. बाक़ी सरकार पर छोड़िये, यह उसका फ़र्ज़ है कि अगर कहीं कोई जुल्म हो जाता है या कहीं हमारे राज के बाहर कोई घटना हो जाती है तो वहाँ की हालत ठीक ठाक करने के लिए मुनासिब जतन करे. लेकिन अपने राज के अंदर हमें एक दूसरे से दोस्त, साथी और एक बड़े मुल्क का अपना भाई बन्द समझ कर पेश आना चाहिये. मुझे मालूम है मैंने कोई नई बात नहीं कही लेकिन कई दफ़ा इन छोटी-छोटी बातों को भुला देने से ही बहुत भारी नुकसान पल्ले पड़ जाता है. यह ग़लतियाँ हमें हर क़ीमत पर त्याग ही देनी होंगी. मैं आशा करता हूँ और ईश्वर अल्ला से प्रार्थना करता हूँ कि स्मृतीश बनर्जी की यादगार इस बड़े शहर में हमेशा अमर रहे और हममें से हर एक को एक दूसरे के साथ भाई चारे के सच्चे रास्ते पर ला खड़ा करे. कलकत्ते के कूचे-कूचे और घर घर में शांति और प्रेम का हमेशा राज रहे.

अनुवादक—श्री० जितेन्द्र

श्री स्मृतीश बनर्जी

[लेखक—एक साथी]

आज़ादी मिलने के बाद जब कलकत्ते में हमारे देश की आज़ादी के दुश्मनों ने फ़िरक़ापरस्ती की आड़ लेकर इन्सानियत और आज़ादी को खतरे में डाल दिया था और क़रीब-क़रीब कामयाब से हो चुके थे, तब जिन थोड़े से देशभक्तों ने अपनी जान देकर भी इस साज़िश को बेकार कर दिया था, उनमें से एक थे श्री स्मृतीश बनर्जी, जो इसी तरह के एक दूसरे शहीद श्री शचीन्द्र मित्र के प्यारे साथी थे.

श्री स्मृतीश बनर्जी छोटी सी उम्र से ही देशभक्तों के दल में शरीक हो गये थे. सन् १६२७ में जब वह आठवें या नवें दर्जे में पढ़ते थे, बंगाल के क्रान्तिकारी दल के एक अच्छे कार्यकर्ता थे. बाद में सन् १६३० में एफ़० ए० पास करते ही वह गांधीजी के 'नमक कानून तोड़ो' आन्दोलन में शरीक हो गये और उत्तरपाड़ा (कलकत्ता) कांग्रेस कमेटी के एक स्वयं सेवक की हैसियत से इस आन्दोलन में काम करते हुए उन्होंने एक बरस की कैद काटी थी.

१६३१ में जेल से छूटने पर वह 'गणनायक' नाम के अखबार के एडीटर हो गये, साथ ही गांधीजी के हरिजन आन्दोलन में भी उन्होंने अच्छी दिलचस्पी ली. हुगली में किसान आन्दोलन की नींव भी आपने ही डाली थी. सन् १६३४ में आप डाक्टर भूपेन्द्र नाथ दत्त के साथ,

'मैमन सिंह जन साहित्य संघ' में शामिल हुए और वहां से लौटते ही फिर गिरफ़्तार कर लिये गये.

सन् १९३५ में जेल से छूटते ही फिर उन्होंने अपना काम शुरू कर दिया. बंगाल सूबे के विद्यार्थियों की सबसे बड़ी सभा 'बंगीय छात्र परिषद' के आप एक खास कार्य कर्ता थे और इसी ज़माने में आपने किसान मज़दूरों का संगठन भी काफी मजबूत बना लिया था. आप आल-इंडिया किसान सभा की वर्किंग कमेटी के मेम्बर भी थे और बंगाल सूबे की कम्यूनिस्ट पार्टी के हल्क़ों में भी आपका क़ाफ़ी असर था.

'त्रिपुरी कांग्रेस' से लौटकर श्री स्मृतीश ने जनता का एक नये सिरे से संगठन करना शुरू किया. इस पर १९४० में आप फिर गिरफ़्तार कर लिये गये. सन् १९४२ तक आप हिजली जेल में बन्द रहे. वहाँ से छूटने पर आपने कम्यूनिस्ट पार्टी से इस्तीफ़ा दे दिया और सिर्फ़ कांग्रेस के झंडे के नीचे ही काम करने का फ़ैसला किया. इसी ज़माने में आप बंगाल सूबा कांग्रेस कमेटी की वर्किंग कमेटी के मेम्बर चुने गये.

१९४५ में आपने आजादी की लड़ाई का एक इतिहास तस्वीरों में तय्यार कराया. कांग्रेस की इजाज़त पर यह तस्वीरें बम्बई और इन्दौर में दिखाई गईं और वहाँ बेहद पसन्द की गईं. इन तस्वीरों में सिराजुद्दौला और अंग्रेज़ों की लड़ाई से लेकर १९४२ तक की तहरीकों को दिखाया गया था और यह तस्वीरें बंगाल के नामी चित्रकारों ने तय्यार की थीं.

१ सितम्बर १९४७ को श्री शचीन्द्र मित्र और श्री स्मृतीश ने इन तस्वीरों की एक नुमायश कलकत्ता यूनीवर्सिटी के सीनेट हाल में करने का फ़ैसला किया था, लेकिन यकायक बलवा भड़क उठने की वजह से आपने यह प्रोग्राम मुलतवी कर दिया और आप श्री शचीन्द्र के साथ शान्ति कायम करने में लग गये. एक सितम्बर को ही श्री शचीन्द्र एक शान्ति जुलूस को निकालते हुए छुरे के शिकार हुए, लेकिन शान्ति जुलूसों का सिलसिला जारी रहा. ३ सितम्बर बुधवार को इसी तरह के एक जुलूस को

निकालते हुए श्री स्मृतीश बनर्जी भी छुरे के शिकार बने और कुछ ही देर में एक अस्पताल में आप भी स्वर्ग सिधार गये.

लेकिन शान्ति और इन्सानियत के दुश्मनों ने आपको मारकर जैसे खुद अपनी छाती में छुरा भोंक लिया था. बलवे के उस दहशत से भरे ज़माने में आपकी अरथी के साथ हिन्दू मुसलमानों की एक बड़ी भीड़, जिसमें बंगाल के बड़े बड़े नेता भी थे, श्मसान तक गई और वहा उसने आपकी चिता की राख हाथ में लेकर यह क़सम खाई कि अब कलकत्ते में फ़िरक़ा परस्ती के राक्षस को जिन्दा नहीं रहने देंगे. इसके बाद ही कलकत्ते में शान्ति होना शुरू हुई. इस तरह श्री स्मृतीश ने हज़ारों बेगुनाहों की जान बचाने के लिये अपने अनमोल प्रानों को खुशी खुशी शान्ति की वेदी पर चढ़ा दिया.

श्री स्मृतीश अमर हैं, वह कभी मर नहीं सकते.

श्री वीरेश्वर घोष और सुशील गुप्ता

[सम्पादक]

श्री शचीन्द्र मित्र और श्री स्मृतीश बनर्जी के साथ ही श्री सुशील गुप्ता और श्री वीरेश्वर घोष* भी एकता और भाई चारे का प्रचार करते हुए शहीद हो गये थे. हमें इस बात का बेहद दुख है कि काफी कोशिश करने के बाद भी हम इन दो शहीदों की जिन्दगी के हालात नहीं पा सके और न उनकी तस्वीरें ही हासिल कर सके. हां, इतना जरूर मालूम हो सका है कि दोनों ही विद्यार्थियों में देशभक्ती का प्रचार करते थे. इन दोनों की मौत पर बंगाल के बड़े से बड़े नेताओं ने अफसोस जाहिर किया था और इनकी शहादत ने कलकत्ते की खून खराबी को रोकने में काफी मदद की थी, इससे जाहिर होता है कि वह अपने हल्कों में काफी असर रखते थे.

इन दोनों शहीदों के चरणों में हम अदब से अपना सर झुकाते हैं।

---

*हमें उम्मीद है कि अगले एडीशन में हम इन दोनों शहीदों की जिन्दगी के पूरे हालात दे सकेंगे—सम्पादक.

["शहीद शेरवानी" लेख के लेखक भाई वीर वीरेश्वर जी उन बहादुर काश्मीरी नौजवानों में से हैं, जो क़बायलियों के हमले के वक्त, बजाय इसके कि और लोगों की तरह भाग आते, काश्मीर में ही जमे रहे थे और निराशा की उन घड़ियों में बड़े धीरज के साथ एक ज़िम्मेदारी की जगह पर काम करते रहे थे. इसके बाद जब काश्मीर की हालत काफ़ी सुधर गई, तब आप अम्बाला आ गये और आज कल अम्बाला के डी० ए० वी० कालेज में प्रोफेसर हैं.

शहीद शेरवानी से वीरेश्वर जी का निजी परिचय था, इसीलिये इस लेख में एक ऐसा दर्द है, जो पढ़ने वालों के दिल को छूए बिना नहीं रह सकता.

वीर वीरेश्वर जी हर एक मसले पर खुद अपने तौर पर सोच विचार करते हैं और कभी किसी संगठन या जमात की बात आँखें मूँद कर नहीं मान लेते. इसीलिये कुछ लोग उन पर यह इलजाम लगाते हैं कि उनके दिल में हिन्दू फ़िरका परस्ती का ज़हर भरा हुआ है. दूसरी तरफ़ ऐसे लोग, जिनके इरादे और करतूतें अब जग जाहिर हो गई हैं, उन पर यह इलज़ाम लगाते हैं कि वह मुसलमानों के साथ पक्षपात करते हैं. ऐसे ही वक्त शायद किसी शायर ने अपना यह मशहूर शेर कहा होगा—

"ज़ाहिदे तंग नज़र ने मुझे काफ़िर समझा,
और काफ़िर यह समझता है, मुसलमाँ हूँ मैं."

लेकिन वीर वीरेश्वर जी को न इनकी परवाह है और न उनकी. वह दोनों के इलज़ामों पर मुस्करा देते हैं. कभी कभी उनको दुख भी होता है, क्योंकि आख़िर वह भी आदमी ही हैं. लेकिन उनको समझना चाहिये कि इस निठुर दुनिया का सिर्फ़ उनके ही साथ यह बरताव नहीं है.

वीर वीरेश्वर जी जैसी दुनिया चाहते हैं, वैसी ही दुनिया बन जाय, यही हम सब की कामना है.

—सम्पादक]

शहीद शेरवानी

[भाई वीर वीरेश्वर जी प्रोफ़ेसर डी० ए० वी० कालेज, अम्बाला]

२२ अक्तूबर १६४७ की मनहूस सुबह को पाकिस्तान की शह पर क़बायली हमलावरों ने श्रीनगर (कश्मीर) के उत्तर-पश्चिम की ओर से हमला किया. दिन चढ़ने से पहले-पहले सारा शहर मसान बन गया. हर तरफ़ से आग की लपटें उठ रही थीं. मकान, गोदाम, दूकान और गुरुद्वारे, मन्दिर, मसजिद सब धू धू करके जल रहे थे. किशन-गंगा का मीठा नीला पानी बेगुनाहों के खून से लाल हो चला था. सारा दरिया लाशों से पाट दिया गया. मनों सोना चाँदी कोहाला के रास्ते रावलपिंडी पहुँचाया गया और दिन भर लूटमार और अस्मतदरी का बाजार गर्म रहा. इसके दूसरे दिन हमलावर आँधी की तरह बढ़ते बढ़ते तीस चालीस मील और आगे बढ़ आये और दोपहरी तक मुज़फ़्फ़राबाद से उड़ी तक के सारे गाँव खाक-कर दिये गये. कुछ लोग, जो जान बचा कर भाग निकलने में सफल हो गये थे, हांपते काँपते, गिरते पड़ते बारामूला चले आये उड़ी के नज़दीक होने के कारण यह खबर सबसे पहले बारामूला में पहुँची. वहाँ लोगों में भय और आतंक छा गया लेकिन उन्हें अपने छोटे शेर मीर मक़बूल शेरवानी पर पूरा भरोसा था. शेरवानी ने अपने फ़र्ज को पहिचाना और जनता को तसल्ली देकर और उसे अपना फ़र्ज़ सुझाकर .ख़ुद मोर्चे पर गया, जहाँ रियासती फ़ौज की एक टुकड़ी ब्रिगेडियर राजेन्द्र सिंह की कमान में नामला पुल पर हमलावरों को रोकने की

कोशिश कर रही थी. वहाँ से कुछ मील वापस आकर शेरवानी राम्पुर में ठहरा. वहाँ लोगों को अपना फ़र्ज अदा करने के लिये उभारा हमलावरों से अपने देश को बचाने के लिये उसने एकता को सबसे ज़रूरी बताया.

जब शेरवानी इस तरह रामपुर में लोगों के हौसले बढ़ा रहा था, श्रीनगर में इस हौलनाक हादिसे की खबर जंगल की आग की तरह फैल रही थी. वहाँ लोगों के हौसले और भी पस्त हो गये. जब बारामूला रोड का ट्रैफिक बन्द हो गया तो लोग बड़ी-बड़ी क़ीमतें दे कर टाँगों और बैलगाड़ियों में चले आने लगे. हालात बड़ी तेज़ी से बदल रहे थे और मक़बूल शेरवानी ख़ुद इस बात को महसूस कर रहा था, इसलिये कुछ देर रियासती फ़ौज के साथ दुश्मन को रोकने का काम अपने कुछ साथियों को सौंप कर वह ख़ुद अपने शहर बारामूला की हिफ़ाज़त को सभालने के लिये चला आया. २४ की सुबह को यहाँ पहुँचते ही उसने लोगों के दिलों में एक नई उम्मीद और उनके सीनों में एक नया जोश और बाजुओं में एक नयी ताक़त भर दी. देश के नाम पर उसने सारी जनता से प्रार्थना की कि अपने प्यारे देश की मर्यादा के मुताबिक़ ही हिन्दू, मुसलमान और सिख भाई एक होकर अपने सुन्दर देश को बचायें. इस तरह भीतरी हिफाज़त का भार नैशनल कानफ्रेन्स कमेटी पर छोड़कर वह असली हालत को समझने के लिये श्रीनगर चला आया श्रीनगर में हमले का खबर सुनते ही नैशनल कानफरेन्स ने हिफ़ाज़ती दस्ते तैयार करने शुरू कर दिये थे और उसका दफ्तर लाल चौक के पास वाले पारोनेशन होटल में खोल दिया गया था. उसी शाम को मायसुमा चौक में शेरे कश्मीर शेख मुहम्मद अब्दुल्ला ने सारी घटना को जनता के सामने रक्खा और दस हज़ार ऐसे नौजवानों के लिये अपील की जो इस आड़े वक़्त में देश के बचाव के लिये काम कर सकें. मक़बूल शेरवानी ने भी शायद इस अपील को सुना और जलसे के बाद ही वह अपने महबूब शेरे कश्मीर शेख अब्दुल्ला से कारोनेशन होटल में मिला.

आज के शहीद
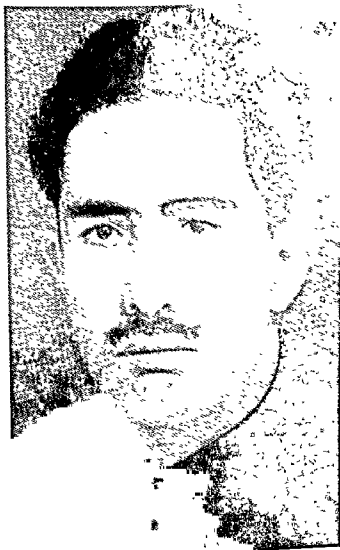
मीर मक़बूल शेरवानी

कैसे छोड़ सकता था. वह बारामूला पहुँचा. वहाँ उसके वालन्टियर पहले ही हिफ़ाज़ती दस्ते का काम कर रहे थे और इस बात के लिये होशयार थे कि कहीं वहाँ पर फ़िरक़ेवाराना बलवा न खड़ा हो जाय. शेरवानी ने आते ही उनको हिन्द यूनियन और कश्मीर के बीच चलने वाली बात चीत की खबर सुनाई और उन्हें शेरे कश्मीर का यह संदेश सुना दिया कि "कश्मीरी मुसलमान को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के हिन्दू-मुसलमानों के लिये एक मिसाल क़ायम करनी है. क़बायली हमारे हिन्दू और सिख भाइयों पर ज़ुल्म ढा रहे हैं. मुसलमानों को अपनी जान पर खेलकर अपने हिन्दू सिख पड़ोसियों की हिफ़ाज़त करनी पड़ेगी क्योंकि हर हिन्दू और सिख की जान मेरे लिये अमानत है. ......" ३।११।४८ ।

वक़्त कम था और काम ज़्यादा. क़बायली हमलावरों के बढ़ते आने की खबर बराबर आ रही थी, यहाँ तक कि आस पास के गाँवों से गोलियों की आवाजें भी सुनाई देने लगी लेकिन शेरवानी अपना काम बराबर करता गया. शेरे कश्मीर का संदेश हर एक मुसलमान तक पहुँचाता रहा. लोग जब अपने घरों में अपनी जान और माल को बचाने की तदबीरें सोच रहे थे तो शेरवानी अपने घर को योंही छोड़कर मोटर साइकिल पर आस पास के गाँवों और क़स्बों, जैसे सोपुर और पट्टन में जाकर लोगों के हौसले बलन्द करता रहा. वह हिन्दुओं और मुसलमानों से भाई भाई की तरह रहने की अपील करता था, और इस तरह से अपने देश और अपनी इज़्ज़त को बचाने की तदबीरें बताता था. वह जनता को हमलावरों को रोके रखने की हिम्मत दिलाता था ताकि वह उसी रफ़्तार से श्रीनगर न पहुँच सकें जिस रफ़्तार से वहाँ तक आ पहुँचे थे. इस तरह जगह जगह उनके लिये रुकावटें पैदा करके वह चाहता था कि वहाँ तक पहुँचते पहुँचते दुश्मन को कुछ दिन और लग जायँ जिससे शायद हिन्द से कुमक आ जाय और देश का बचा हुआ हिस्सा बरबादी और तबाही से बच जाय. उसे अपने घर की चिन्ता नहीं थी. कश्मीर उसका अपना घर था और सारी हिन्दू मुसलमान जनता

उसकी भाई बहन थी: सोपुर से लौटकर वह पटन जा ही रहा था कि उसे बारामूला के गिरने का समाचार मिला. आस पास के देहातों और क़बायलियों के हमलों की खबर वह बराबर श्रीनगर में नैशनल कानफ़रेन्स के दफ़्तर पर पहुँचाता रहा. एक बार खुद भी उसे वहाँ जाना पड़ा. तब उसके दोस्तों ने उसे रोक लेना चाहा था लेकिन वह रुक न सका उस वक़्त सभी हिन्द सेना के आने के इन्तज़ार में थे क्योंकि हिन्द से नाता तय हो चुका था. नैशनल मिलेशिया के अफ़सरों का खयाल था कि शेरवानी को फौज के आने पर मिलेशिया के साथ बारामूला भेजा जाय, लेकिन यह ख़याल शेरवानी को पसन्द न आ सका. इधर श्रीनगर के बाजारों में हिफ़ाज़ती दसते और क़ौमी फ़ौज (मिलेशिया) "हमलावर—खबरदार, हम कश्मीरी—हैं तैयार" के नारों से आसमान को गुन्जा रही थी. लोगों के दिलों में जोश भर रही थी—उन्हें एक होकर देश पर मर मिटने के लिये उभार रही थी. और उधर शेरवानी सचमुच हमलावरों से लड़ने चल दिया.

इस बार बारामूला जाते वक़्त उसे रास्ते के लिये भेस भी बदलना पड़ा. वह एक कबायली सा बना और उनसे मिलकर वह उन्हें कई टुकड़ियों में बाँटता गया ताकि कहीं वह काफ़ी तादाद में इकट्ठे होकर किसी एक तरफ़ न चढ़ आयें. वह उन्हें बराबर भटकाता रहा जिससे कि उनको ठीक रास्ता न मिल सके. और दूसरे दिन २७ अक्तूबर को जब हिन्द सेना हवाई जहाज़ों में श्रीनगर आई तो कबाइलियों के होश उड़ गये. वह श्री नगर के दरवाज़ों तक पहुँच गये थे और अब उन्हें इस बात का अफसोस हो रहा था कि रामपुर और बारामूला में वह क्यों रुके रहे. अब शेरवानी की ज़िम्मेदारियाँ और भी बढ़ गईं. वह हिन्द

आये. उनका दूसरा बड़ा कैम्प पटन में था. शेरवानी पहले उसे निशाना बनवाना चाहता था ताकि क़बायली डरकर पीछे हट जायें और उसके बाद उन्हें और पीछे धकेल दिया जाय. इसमें भी वह कामयाब रहा और पटन में उनकी एक खासी टुकड़ी उड़ा दी गई. यहाँ से कुछ क़बायली सुम्बल गांव की ओर चले आये. आते ही यहाँ उन्होंने सारे गाँव में हाहाकार मचा दिया. शेरवानी फ़ौरन ही वहाँ भी पहुँचा और वहाँ के तमाम हालात हिन्द सेना के पास भेज दिये, जिससे वहाँ के क़बायलियों को काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा. क़बायली सरदारों और फ़ौजी अफ़सरों को अपनी इस अचानक हार पर हार देखकर अचंभा हुआ. उन्हें अब इस नये पठान (शेरवानी) पर शक होने लगा और उन्होंने छानबीन करनी शुरू कर दी. कुछ खास आदमी सिर्फ़ इसीलिये तैनात किये गये. बात यह थी कि क़बायलियों को मुज़फ़्फ़राबाद से बारामूला तक कहीं भी ऐसी मुँहकी नहीं खानी पड़ी थी और न उनके आदमी ही इतनी तादाद में कहीं मारे गये थे लेकिन यहाँ दो तीन दिनों में ही काफ़ी आदमी काम आये इससे उनका शक और भी बढ़ गया. एक दिन सुम्बल से बारामूला आते आते एक मुस्लिम लीगी ने इसका भेद क़बायलियों को दिया और दूसरी सुबह शेरवानी क़बायलियों की क़ैद में था.

बारामूला में जो हालत उसने अपने भाई बहनों की देखी उसे देखकर उसका दिल रो उठा था. वहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों को समान तौर पर लूटा गया था. उनके मकानों को आग लगा दी गई थी. औरतों की बेइज़्ज़ती की गई थी. यह सब देखकर उसका ख़ून खौल उठा था. जब उसे इस्लाम के नाम पर "जिहाद" की बातें सुनाई गईं तो उसने निडर होकर उनकी बातों का जवाब दिया और साफ़ साफ़ कहा— "इस्लाम के नाम पर नन्हे नन्हे बच्चों और औरतों को क़त्ल करना 'जिहाद' नहीं कहलाता. औरतों की बेइज़्ज़ती करना, उन पर हमला करना, लूट मार करना यह सब इस्लाम की तालीम नहीं है—हिन्दू और मुसलमान सब एक ही ख़ुदा के बेटे हैं. मुहम्मद

और सच्चाई इस्लाम के दो बड़े उसूल हैं...' लेकिन बर्बर क़बायलियों के मुँह से भेड़ियों की तरह इन्सानी खून लग चुका था. मुफ़्त माल की चाट उन्हें पड़ चुकी थी. शेरवानी की इस साफ़ गोई से वह और भी बिगड़े. वह उस पर टूट पड़े. उसे 'ग़द्दार' साबित किया गया और तय हुआ कि दूसरे दिन जुम्मा की नमाज़ के बाद उसे सूली पर चढ़ा दिया जाय

३१ अक्तूबर—जुम्मा (शुक्रवार) को सारे क़स्बे में डोंडी पिटवा दी गई ताकि सभी लोग इकट्ठे हों और 'नाफ़रमानी' की सजा को देख लें. सूली पहले ही तैयार थी जो चौक में एक मकान के सहारे बनाई गई थी. सबसे पहले उसे सलीब पर लटका दिया गया. हाथों में कीलें ठोंकी गईं और उससे हिन्द सेना का हाल पूछा गया. लेकिन उसने कुछ भी बताने से इन्कार कर दिया तब उसकी पेशानी पर 'यह गद्दार है' की तख्ती कील से ठोंकी गई. शेरवानी बड़े धीरज से खड़ा-खड़ा यह तमाम जुल्म सहता रहा. उसकी ज़बान से 'उफ़' तक न निकली. लोग उसकी हिम्मत को देखकर जोश में आते थे, लेकिन चारों तरफ़ क़बायली भेड़ियों से घिरे हुए होने की वजह से बेबस थे. वह खून के आँसू रोने लगे लेकिन आँसू पीते गये. शेरवानी के होंठों पर एक अजीब सी मुस्कराहट खेल रही थी जैसे कि वह अपना फ़र्ज़ निभाने पर खुश खुश मर रहा हो. इस्लाम के ठेकेदारों ने उसे जुम्मा की नमाज़ तक पढ़ने नहीं दी, जो उसकी आखिरी ख़ाहिश थी इस पर वह चीख उठा—

"हिन्दू मुस्लिम सिख इत्तिहाद—ज़िन्दाबाद"

"नया कश्मीर—जिन्दाबाद"

"शेरे कश्मीर—ज़िन्दाबाद"

इन नारों पर क़बायली सरदार और भी बिगड़े. अब उस पर गोलियाँ दाग़ी गईं, उसके बदन को छलनी बना दिया गया. और लोगों में दहशत क़ायम रखने के लिये लाश वहीं रहने दी गई ताकि फिर कोई ऐसी हरकत करने की हिम्मत न करे.

कश्मीर के इस हमले में मक़बूल शेरवानी का बलिदान अपने क़िस्म का एक अनोखा बलिदान है जिसमें वफ़ादारी, प्रेम, हमदर्दी, देशभक्ति और इन्सानियत सभी चीज़ें एक साथ मिलती हैं.

मक़बूल शेरवानी अपने माँ बाप का अकेला सहारा था, अपने घर का अकेला दीपक था. अपने जीवन और जवानी को सुख और विलास में न डालकर उसने अपने देश की भेंट चढ़ा दिया. उसकी आवाज़ मरते दम तक यही रही—"एक बनकर रहो, एक होकर दुश्मन से लड़ो, अपने देश को बचाओ." जब उसे बारामूला बचता दिखाई न दिया तो उसकी सारी कोशिश श्रीनगर के बचाव की ओर लगी. इसीलिये आज वह कश्मीर के हर एक घर का दीपक है. हर देशभक्त का सहारा और आदर्श है. नैशनल कानफ़रेन्स पहले ही बापू के आदर्श पर चली आ रही है और कश्मीर को इस बात का गर्व है कि वह बापू की शिक्षा की एक जीती जागती मिसाल है, जहाँ जनता पूरे भाई चारे से निबाह करती है. धर्म को राजनीति के साथ नहीं मिलाती और सांप्रदायिकता के साँप का मुँह वहाँ हमेशा के लिये कुचल दिया गया है. शेरवानी इसी नैशनल कानफरेन्स का एक जोशीला कारकुन था और इसी तालीम ने उसे यह हौसला दिया. उसने बापू की तालीम को सचाई के साथ समझा था और उसी पर अपना जीवन न्योछावर कर दिया. ख़ुद बापू ने शेरवानी की शहादत पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई थी और शेरे कश्मीर ने अपने इस बहादुर सिपाही की मौत पर कहा था—

"हज़ारों बरस तक हमारी आने वाली नसलें अभिमान से मुहम्मद मक़बूल शेरवानी की क़ायम की हुई इस मिसाल को याद रक्खेंगी. क़बायलियों के पंजे में आकर वह अपना जीवन बलिदान करने से न कतराया ताकि उसकी मौत से हमारा सुन्दर देश बच सके. ख़ुदा उसकी आत्मा को शांति दे......"

और सच मुच मीर मुहम्मद मक़बूल शेरवानी जैसे शहीद पर कश्मीर

जितना भी घमंड करे कम है. कश्मीर की आजादी के इतिहास में उसका नाम सोने के अक्षरों से लिखा गया है.

आज हिन्दुस्तान में जब मैं फ़िरका परस्तों की जहालत से भरी बातें सुनता हूँ और ऐसे लोगों को, जिनकी तमाम जिन्दगी अंग्रेज़ सरकार के पैर चाटते बीती है, कश्मीर की नैशनल कानफ़रेन्स पर, शेख़ अब्दुल्ला पर और अपने देश के नेताओं पर मुस्लिम परस्ती का शक ज़ाहिर करते हुए देखता हूँ, तो मेरे दिल में एक टीस सी होने लगती है और मैं सोचने लगता हूँ कि मेरी इस प्यारी और शानदार हिन्दू क़ौम को हो क्या गया है, जो उन पर भी शक कर रही है, जो उनके लिये जान दे रहे हैं. मैं कश्मीर के ऐसे बहुत से हिन्दुओं को जानता हूँ, जो पाकिस्तान से साजबाज़ करने में शरीक थे, या जो इस मुसीबत के वक्त या तो चोर बाजारी करके दौलत भरने में लगे हुए थे या अपना माल मता समेटकर, जो उन्होंने हम ग़रीब कश्मीरियों को चूस-चूस कर इकट्ठा किया था; भाग आने को तय्यार थे. लेकिन काश्मीर का बचा-बचा जानता है कि शेख़ अब्दुल्ला ने ठीक वक्त पर हमारे और अपने प्यारे कश्मीर को बचा लिया.

दिल तो चाहता है कि इस वक़्त उन ग़द्दारों के काम, पर भी कुछ रोशनी डालूँ, जो पहिले तो हमेशा कश्मीर में हिन्दू मुसलमान का सवाल खड़ा करके आम जनता को कुचलने में हुकूमत की मदद करते रहे, और जब मुल्क पर मुश्किलें आईं, तब भी जितने भी बुरे से बुरे काम उनसे हो सकते थे, उन्होंने किये. यह सोचकर ही मेरा दिल काँप उठता है कि अगर पिछले जमाने में पं० जवाहर लाल नेहरू शेख़ अब्दुल्ला की हिमायत में कश्मीर न पहुँचते. तो आज हमारी क्या हालत होती ? लेकिन हमारी ख़ुश क़िस्मती थी कि हम ठीक वक्त पर बचा लिये गये.

एक कश्मीरी की हैसियत से मुझे मक़बूल शेरवानी पर नाज़ है और मुझे इस बात पर भी गर्व है कि जब कश्मीर के पड़ोस में भाई-भाई के गले पर तलवार चला रहा था, तब काश्मीर के मुट्ठी भर हिन्दू

कुछ साल पहिले हमारी थी, जब हमें बापू की बातें कड़वी मालूम होती थीं और जो लोग जोशीली बातें कहते थे, उनकी बातें अच्छी मालूम होती थीं. आज हैदराबाद के वह लोग, जो उस वक़्त रिज़वी के साथ थे, इस बात पर पछताते हैं कि वह उस वक़्त शोऐबुल्ला खान के कहने पर क्यों नहीं चले. ठीक यही हालत हमारी भी है. काश! हैदराबाद के लोग शोऐबुल्ला खान की और हम बापू की शहादत से पहले ही इतना समझ सकते!

काश! अब हम आगे ही ऐसी ग़लतियों से बच सकें. —सम्पादक

जनाब शोऐबुल्लाह ख़ाँ

मुहम्मद शोऐबुल्ला खान

[बहन शान कुमारी हेडा, हैदराबाद]

उस दिन प्यारे बापू बेजवाडा जा रहे थे. रास्ते के एक स्टेशन [illegible]ोटा (महबूबाबाद) पर पुलिस इन्सपेक्टर मौलवी हबीबुल्लाखान [illegible] इन्तज़ाम था. गान्धी जी की दुबली पतली देह और सचाई के नूर [illegible] चमकते हुए उनके चेहरे ने मौलवी हबीबुल्लाखान पर एक अजीब ही [illegible]र डाला. गान्धी जी का प्यारा रूप उनकी आँखों मे समा गया. गाँव [illegible]टे, तो खबर मिली कि वह एक बेटे के बाप हो गये हैं. मौलवी हबी-[illegible]लाखान ने अपने बेटे को देखा, तो वैसी ही तेज भरी आँखें और [illegible]ा माथा देखते ही बोले—"अरे, यह तो बिलकुल गांधी है।" और [illegible] से वह उसे 'गांधी शोऐबुल्लाखान' कह कर पुकारा करते थे.

* * *

गान्धी जी के गोली लगी. बापू हमेशा के लिये चल बसे. शोऐबुल्ला-[illegible]न अपनी सीढ़ियों पर सर पकड़ कर बैठे थे, आँखों से आँसू टपक पड़े. [illegible] तरह से कभी ग़मगीन न होने वाले अपने बेटे की आँखों में आँसू [illegible]ख कर माँ ने कहा—"बेटा! गान्धी महात्मा तो इतनी अच्छी मौत [illegible]र मरे हैं, फिर तू रोता क्यों है?"

बेटे ने अपनी आँसू भरी आँखों से माँ की तरफ़ देख कर कहा—"अम्मी! मैं भी ऐसी ही मौत पाऊँ तो तुम आँख में आँसू नहीं [illegible]ओगी न?"

है. हुकूमत या मजलिस कांग्रेसी हिन्दू से पहिले कांग्रेसी मुसलमान का खतम करना सोचेगी, हमारे पास पहले तिरमिज़ी साहब थे, अब तुम उस हलके के नेता हो, जो सचाई और शान्ति का निडर प्रचारक है. हाँ, एक ही सूरत में वह तुम्हारा ख़याल शायद छोड़ दे कि तुम्हारे जैसे मुसलमान को मार कर यह खोखली हो जायगी, दूसरे मुल्कों में उसे मुँह दिखाने को जगह नहीं मिलेगी. वरना मुझे तो हमेशा यह डर रहता है कि पहला वार तुम पर ही होगा. हो सकता है कि नवाब मंज़ूर जंग वगैरा का यह बयान आने के बाद वह पहले इन नेशनलिस्ट मुसलमानों को रास्ते से हटाये, तुम्हारा नम्बर बाद में आवे."

हेडाजी की इस बात के जवाब में शोऐब भाई सिर्फ़ एक लुभावनी हँसी हँस कर रह गये थे.

हाय! विधाता को हमारे इसी डर को सच साबित करके हमें कलपाना था. निडर और बहादुर शोऐब भाई तरह तरह की मुश्किलों का सामना करते हुए, अपने मुसलमान मजिलसी भाइयों के ताने, गालियाँ, धमकी, सभी कुछ सहते हुए अपनी क़लम इन्साफ़, सचाई और शान्ति के लिये चलाते ही रहे. उनके रोएँ रोएँ में देश और कौम की सेवा का सच्चा भाव भरा हुआ था. अपने मारे जाने की बात को वह मीठी मुस्कान के साथ टाल दिया करते थे.

* * *

२० अगस्त १९४८ को शोऐब भाई को एक खत मिला, जिसमें उनको "गान्धी का बेटा" को गाली देकर मार डालने की धमकी दी गई थी. ऐसा तरह के खत पहले भी कई बार मिल चुके थे. उसी रात को उनके अखबार 'इमरोज' के दफ्तर में स्टेट कांग्रेस के नेता और उनके गहरे दोस्त श्री बी० रामकिशन राव और हेडा जी से उस खत का ज़िक्र हुआ. रामकिशन राव जी ने कहा—' शोऐब! तुम इसे गाली नहीं समझ सकते?"

होने दीजिये. मेरी कुर्बानी भी हुई, तो वह खाली नहीं जायगी. हो जाने दीजिये. जो खुदा को मंजूर है."

इसके बाद दूसरी बातें छिड़ गईं. हैदराबाद के नुमाइन्दों का यू० एन० ओ० में जवाब देने के लिये उनको कुछ साथियों को लेकर पेरिस, अमरीका वग़ैरा में जाना चाहिये, इस मसले पर भी हम सबने विचार किया. उस वक़्त हममें से कौन जानता था कि यह मुलाक़ात और यह बातचीत बस आखिरी है. और मैं ही क्या जानती थी कि भाई शोऐब अब कभी इस घर में अपनी इस खास मुस्कराहट के साथ 'आदाब बहिन' कहते हुए नहीं आ सकेंगे."

* * *

२१ तारीख को हम लोग बेफ़िक्री की नींद सो रहे थे और उधर रात को सवा बजे वह शेर शहीद हो रहा था. पिस्तौल की गोलियों से छाती और अन्तड़ियाँ छलनी की जा रही थीं. क़ासिम रिज़वी के हुक्म की तामील हो रही थी, क्योंकि वह एक ऐसे ग़द्दार थे, जिनकी क़लम हमेशा मुल्क की भलाई के लिये, हैदराबाद में आसफ़जाही झंडे के नीचे सच्चे प्रजाराज के लिये, और हैदराबाद की भलाई को खयाल में रखकर हिन्द यूनियन में शिरकत करने की हिमायत में चलती रही थी. सिर्फ दस महीने ही तो हो पाये थे, जब 'इमरोज' रोज़ाना हुआ था. लेकिन इन दस महीनों में ही शोऐबुल्ला खान की कलम ने मजलिसी और सरकारी हल्कों में खलबली मचा दी थी. उनकी क़लम में कुछ ऐसा ही जादू था.

करीब पाँच बरस पहिले की बात है, कायदे मिल्लत नवाब बहादुर यार जंग, जो उस वक़्त इत्तिहादुल मुसलमीन के सदर थे, की मौत के बाद आला हज़रत निज़ाम साहब ने मजलिस के अगले प्रोग्राम और फ़र्ज पर रोशनी डालने के लिये अपने दस्तख़तों के बिना कुछ फ़र्मान निकालने शुरू किये. यह फ़र्मान 'सुबहे दकन' अख़बार के ऊपर के पेज

जवाब में शोऐब भाई ने कहा—"गान्धी जी मेरे ही क्या, पूरे मुल्क के पिता थे. इससे बढ़कर मेरी तारीफ़ क्या हो सकती है. मेरी आरज़ू है कि मैं इसके क़ाबिल बनूँ." रामकिशनराव जी उनके इस आख़िरी जुमले पर कुछ चौंक से गये और बोले—"लेकिन तुमको संभल कर रहना चाहिये." लेकिन होनी ने उनसे कहलवाया—"मुझे तो फ़ख़ होगा अगर मैं बापू की ही तरह चला जाऊँ."

और तीस घंटे भी न बीत पाये थे कि वह बहादुर गान्धी जी की ही तरह हँसते हँसते चल बसा.

* * *

२२ अगस्त को 'इमरोज़' का अंक निकला. न जाने पहली रात को अख़बार एडिट करते हुए शोऐब भाई को क्या सूझा कि "आज के लिये ख़याल" में उन्होंने मशहूर इंक़लाबी शायर 'जोश' मलीहाबादी की नीचे लिखी रुबाई भी लिख डाली—

"तक़रीर के वक़्त क्यों न बोलूँ साक़ी?
क्यों दिल की गिरह भय से न खोलूँ साक़ी?
बरबाद तो होना है बहरहाल मुझे
दे जाम कि आबाद तो हो लूँ साक़ी."

नीचे के दोनों मिसरों में तो जैसे उन्होंने अपने दिल की तस्वीर ही खींच कर रख दी थी.

* * *

२१ ता० को दो घंटे तक शोऐब भाई मेरे घर पर हमेशा की तरह आकर बैठे. हैदराबाद की हालत पर चर्चा चली. देटा जी ने उनसे फिर कहा—"शोऐब साहब! आप अपने लिये सोचिये. वह जगह बदल डालिये. संभल कर रहने में क्या हरज है!" लेकिन बहादुरी और हिम्मत का वह पुतला अपने विश्वास और अपने विचार से टस से मस न होता था. उसने अपनी उसी पुरानी मुस्कराहट के साथ कहा—'जो होना है, वही

होने दीजिये. मेरी कुर्बानी भी हुई, तो वह खाली नहीं जायगी. हो जाने दीजिये. जो खुदा को मंजूर है."

इसके बाद दूसरी बातें छिड़ गईं. हैदराबाद के नुमाइन्दों का यू० एन० ओ० में जवाब देने के लिये उनको कुछ साथियों को लेकर पेरिस, अमरीका वगैरा में जाना चाहिये, इस मसले पर भी हम सबने विचार किया. उस वक़्त हममें से कौन जानता था कि यह मुलाकात और यह बातचीत बस आखिरी है. और मैं ही क्या जानती थी कि भाई शोऐब अब कभी इस घर में अपनी इस खास मुस्कराहट के साथ 'आदाब बहिन' कहते हुए नहीं आ सकेंगे."

* * *

२१ तारीख को हम लोग बेफिक्री की नींद सो रहे थे और उधर रात को सवा बजे वह शेर शहीद हो रहा था. पिस्तौल की गोलियों से छाती और अन्तड़ियाँ छलनी की जा रही थी. कासिम रिजवी के हुक्म की तामील हो रही थी, क्योंकि वह एक ऐसे ग़द्दार थे, जिनकी क़लम हमेशा मुल्क की भलाई के लिये, हैदराबाद में आसफजाही झंडे के नीचे सच्चे प्रजाराज के लिये, और हैदराबाद की भलाई को खयाल में रखकर हिन्द यूनियन में शिरकत करने की हिमायत में चलती रही थी. सिर्फ दस महीने ही तो हो पाये थे, जब 'इमरोज़' रोजाना हुआ था. लेकिन इन दस महीनों में ही शोऐबुल्ला खान की कलम ने मजलिसी और सरकारी हल्कों में खलबली मचा दी थी. उनकी कलम में कुछ ऐसा ही जादू था.

करीब पाँच बरस पहिले की बात है, कायदे मिल्लत नवाब बहादुर यार जंग, जो उस वक़्त इत्तिहादुल मुसलमीन के सदर थे, की मौत के बाद आला हजरत निजाम साहब ने मजलिस के अगले प्रोग्राम और फर्ज पर रोशनी डालने के लिये अपने दस्तखतों के बिना कुछ फ़र्मान निकालने शुरू किये. यह फर्मान 'मुबहे दकन' अखबार के ऊपर के पेज

इसी तरह मारने की धमकी देते थे, क्योंकि बापू इन्साफ़ की बात कहते थे. लेकिन तानाशाही इन्साफ़ की बात कब पसन्द करती है ?

* * *

रिज़वी ने जो कुछ कहा, उसे सच करके भी दिखा दिया. शोऐब और इस्माईल खान २१ तारीख की रात को आफिस से लौट रहे थे. पहिले उनको गोलियों का शिकार बनाया गया और फिर उनका सीधा हाथ और बायाँ हाथ काटा गया. इसी तरह का हमला शोऐब भाई के साले और 'इमरोज़' के मैनेजर इस्माईल खान पर भी किया गया. गोली उनकी बाँह को छूती हुई निकल गई. वह चिल्लाये—"शोऐब भय्या को मारा जा रहा है." कुछ पड़ोसी और उनकी पत्नी शोर सुन कर बाहर आये. देखकर वह चीखीं और फिर पड़ोसी की मदद से भीतर ले जाने लगीं. पसली के नीचे गोली लग कर आर-पार हो गई थी. एक गोली छाती पर भी लगी थी. इतने पर भी हिम्मत का वह धनी कुछ कदम पैदल चला, लेकिन घर के फाटक के सामने आकर गिर गया. आधीरात में सुनसान सड़क पर नामर्दों ने फिर इस बेबस और घायल नौजवान पर तलवारों के वार किये. यह मज़हबी दीवाने सचमुच ऐसे ही बहादुर होते हैं. बापू के दुबले पतले शरीर पर गोलियाँ चलाते वक़्त भी यह लोग जैसे बड़ी भारी बहादुरी समझ रहे थे.

हाथ कट चुके थे. एक बाँह पर छै और दूसरी पर चार गहरी चोटें थीं, सीधी तरफ़ आधा सिर घायल था. कान लटक पड़ा था, लेकिन हिम्मत ने तब भी साथ नहीं छोड़ा था.

इसी बीच पड़ोसी की मदद से एम्बूलेन्स कार आ गई. पुलिस भी आ पहुँची. पुलिस अफ़सर को उन्होंने अपना बयान देना चाहा, लेकिन पुलिस ने मजिस्ट्रेट न होने का बहाना करके बयान लेने से इन्कार कर दिया. साज़िश पूरी थी, फिर भी उन्होंने क़ातिलों के नाम बताये, जो शायद उसी मुहल्ले के और आस-पास के थे. चाँदनी रात थी, इसलिये पहिचानना आसान था.

पर मोटे मोटे हुरूफ़ में छपते थे. हैदराबाद के नेशनलिस्ट मुसलिम हलक़ों में इन फ़र्मानों का जवाब देने की जरूरत महसूस की जा रही थी, लेकिन सवाल यह था कि बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधे? उन दिनों भाई शोऐब ने "ताज" नाम के अखबार में अखबार नवीसी की जिन्दगी शुरू ही की थी. उन्होंने फ़ौरन ही कहा—"सचाई को सामने रखने में भा आगा पीछा सोचने की क्या जरूरत है?" दूसरे ही दिन 'ताज' में उनके नाम से एक लेख छपा, जिसमें बहुत ही साफ़ साफ़ लफ़्जों में उन्होंने इस बात पर कड़ी नुक्ता चीनी की कि शाही फ़र्मान बिना दस्तखत के क्यों निकल रहे हैं और कैसे निकल सकते हैं. इसके अलावा कोई बादशाह किसी फ़िरक़ा परस्त संगठन के झमेले में कैसे पड़ सकता है? वग़ैरह. इसका नतीजा यह हुआ कि 'ताज' उसी दिन बन्द करा दिया गया और भाई शोऐब उसी दिन से हुकूमत की आँख में क़ांटे की तरह चुभने लगे थे. फिर 'इमरोज़' में उन्होंने पिछले दस महीनों से जो लेख लिखे, उन लेखों ने तो क़ासिम रिजवी और हुकूमत दोनों को दहला सा दिया था. उनके पैर लड़खड़ाने लगे थे. फिर भला रिज़वी इतने बड़े 'ग़द्दार' को कैसे सहन कर सकता था, जिसकी क़लम उसकी अन्धी अक़्ल के मुताबिक़ 'ममलिकते आसफ़िया' के ख़िलाफ़ चल रही थी.

१६ अगस्त को सुबह साढ़े दस बजे ज़मुर्रद महल टाकीज़ में हिटलर के पाकिट एडीशन रिज़वी ने 'निजात दिन, मनाये जाने के सिलसिले में कहा था—

"ग़द्दार हर जमाने में थे. यहाँ और इस वक़्त भी मौजूद हैं. मुझे इसकी पर्वाह नहीं है, मैं तुम्हारा नुमाइन्दा हूँ. मैं हर उस हाथ को काट दूँगा, जो 'ममलिकते आसफ़िया' (आसफ़जाही साम्राज्य) के ख़िलाफ़ उठेगा.................."

ठीक है, बापू को भी तो फ़िरक़ा परस्त हिन्दू 'ग़द्दार' कहते थे और

इसी तरह मारने की धमकी देते थे, क्योंकि बापू इन्साफ़ की बात कहते थे. लेकिन तानाशाही इन्साफ़ की बात कब पसन्द करती है?

* * *

रिजवी ने जो कुछ कहा, उसे सच करके भी दिखा दिया. शोऐब और इस्माईल खान २१ तारीख की रात को आफ़िस से लौट रहे थे. पहिले उनको गोलियों का शिकार बनाया गया और फिर उनका सीधा हाथ और बायाँ हाथ काटा गया. इसी तरह का हमला शोऐब भाई के साले और 'इमरोज़' के मैनेजर इस्माईल खान पर भी किया गया. गोली उनकी बाँह को छूती हुई निकल गई. वह चिल्लाये—"शोऐब भय्या को मारा जा रहा है." कुछ पड़ोसी और उनकी पत्नी शोर सुन कर बाहर आये. देखकर वह चीखीं और फिर पड़ोसी की मदद से भीतर ले जाने लगीं. पसली के नीचे गोली लग कर आर-पार हो गई थी. एक गोली छाती पर भी लगी थी. इतने पर भी हिम्मत का वह धनी कुछ क़दम पैदल चला, लेकिन घर के फाटक के सामने आकर गिर गया. आधीरात में सुनसान सड़क पर नामर्दों ने फिर इस बेबस और घायल नौजवान पर तलवारों के वार किये. यह मजहबी दीवाने सचमुच ऐसे ही बहादुर होते हैं. बापू के दुबले पतले शरीर पर गोलियाँ चलाते वक़्त भी यह लोग जैसे बड़ी भारी बहादुरी समझ रहे थे.

हाथ कट चुके थे. एक बाँह पर छै और दूसरी पर चार गहरी चोटें थीं, सीधी तरफ़ आधा सिर घायल था. कान लटक पड़ा था, लेकिन हिम्मत ने तब भी साथ नहीं छोड़ा था.

इसी बीच पड़ोसी की मदद से एम्बूलेन्स कार आ गई. पुलिस भी आ पहुँची. पुलिस अफ़सर को उन्होंने अपना बयान देना चाहा, लेकिन पुलिस ने मजिस्ट्रेट न होने का बहाना करके बयान लेने से इन्कार कर दिया. साजिश पूरी थी, फिर भी उन्होंने क़ातिलों के नाम बताये, जो शायद उसी मुहल्ले के और आस-पास के थे. चाँदनी रात थी, इसलिये पहिचानना आसान था.

अस्पताल में बूढ़े बाप से उन्होंने कहा—"आपने मुझे इकलौता समझ कर बड़े नाज़ों से पाला था, (शोएब भाई अपने ग्यारह भाई बहिनों में अकेले बचे थे) लेकिन मुझमें तो पठान का ख़ून था—आप समझते थे मेरा लाल नाज़ुक तबियत का है! अब्बा! मेरे चोट बहुत लगी है. पेट में सख़्त दर्द है. मेरे तीन गोलियाँ लगीं, इतनी चोट है—पर अब्बा! मैंने उफ़ तक नहीं की. क़ातिल भी समझ लें कि मैं एक पठान था.... अब्बा! लड़कियों का ख़याल रखना...मेरा 'इमरोज़' जारी रहे....मेरे अज़ीज़ों को बुला...."

ठीक साढ़े चार बजे उस उन्तीस बरस के होनहार नौनिहाल को हमसे हमेशा के लिये मौत छीन ले गई. उनके साथी, हम लोग उनके याद करने पर भी वक़्त पर न पहुँच सके. ताज्जुब है कि इतनी सख़्त चोटों के बावजूद वह तीन घन्टे तक कैसे ज़िन्दा रहे और इतनी बातें इतनी हिम्मत के साथ कैसे कर सके! हाँ, यह सब उस बहादुर की शान में चार चाँद लगाने के लिये हुआ.

२२ ता० की सुबह दिल को बैठा देने वाली यह ख़बर सुनी. हम सब अपना माथा ठोंक कर रह गये. हैदा जाँ के मुँह से निकल पड़ा—"सबसे बड़ी क़ुर्बानी हमने दे दी. हैदराबाद की आज़ादी इससे भी बढ़ कर और क्या क़ुर्बानी चाहती है!"

मैं फ़ौरन शोएब भाई के घर पहुँचा. कुछ और साथी अस्पताल गये. घर पर माँ और पत्नी का विलाप और अस्पताल में बेजान देह के अलावा और क्या मिलने वाला था.

पोस्टमार्टम वग़ैरह के बाद साढ़े बारह बजे लाश घर पर लाई गई. लाश पर से ख़ून से भरी चादर सरकाई, तो चेहरे पर वही शान्ति, वही धीरज और होंठों पर वही धीमी, मीठी मुस्कान खेल रही थी. तीन घंटे से ज़्यादा इतनी कड़ी तकलीफ़ें सहने के बाद भी उनके माथे पर एक सिकुड़न तक नहीं थी. सुना है कि बापू के चेहरे पर भी तो ऐसी ही [illegible] विराज रही थी.

बेजान देह को नहला धुला कर खादी में लपेटा और डोले में रख कर बाहर ले जाया गया. हज़ारों लोग आखिरी दर्शनों को आ जा रहे थे और बाहर खड़े इन्तज़ार कर रहे थे. माँ बेहोश सी थीं, उनको बड़ी मुश्किल से घर से बाहर निकलने से रोका गया. फिर भी वह पागलों की तरह पूरी ताक़त से अपने को सबसे छुड़ाकर फाटक पर आ गईं. डोला मोटर पर रखा गया और जैसे ही मोटर स्टार्ट हुई, माँ पूरी ताक़त से चिल्लाईं—"शोऐबुल्ला खान जिन्दाबाद."

तमाम जनता ने सिसकती हुई आवाज में उनका साथ दिया—"शोऐबुल्ला खान ज़िन्दाबाद.'

आह ! शहीद शोएब !!
यह तुम्ह पर किसके हाथ उठे !!!

(लेखक—श्री हरिश्चन्द जी हेडा)

गुज़रे दिनों की पुरानी आदत से बेवफ़ाई कर, हैदराबाद शहर ख़ामोशी की चादर ओढ़े गहरी नींद सो रहा था. आकाश पर तैरते चाँद की झिलमिलाती किरणें चाँदी उंडेल-उसे नहला रही थीं. उस मनहूस दिन, अगस्त की २१ तारीख़ को रात के दो बजा चाहते थे. चारों ओर हू का आलम था. हर चीज मानो मौत की गोद में अटूट नींद सो रही थी. मालूम होता था जैसे सारी सृष्टि पर फ़ालिज गिर गया हो. जमीन व आसमान का कोना कोना ख़ामोश, चुपचाप बिना हिले डुले जैसे सबदे में गिरा हुआ था. लेकिन एक जगह शायद कोई चहल-पहल हो. वह जगह जिसे मुजाहिदे आज़म का सरकारी बड़ा दफ़्तर कहते हैं. इसकी चाल तो दुनिया से निराली होगी ही. पर नहीं. ओह ! मालूम होता है आज चाँद की तबाशीर बिखेरती चाँदनी ने, इसके चारों ओर अपना जादू डाल, आख़िर इसे भी बेहोशी की दवा पिला ही दी. पर यह क्या ! यह कैसी आवाज़ है. दारुस्सलाम के पास यह किसके क़दमों की चाप सुनाई दे रही है ! कोई कदम बढ़ाता चला आ रहा है. वह नज़दीक आ रहा है. अब तो कुछ-कुछ साफ़ भी दिखाई देने लगा. यह तो कोई हाथों में एक गठरी उठाए हुए है.

रात की देवी ने अपना मंत्र फूँक सारी दुनिया को तो बेकार कर दिया था. पर यह मन चला, हाथों में गठरी दबाए, जोश की हालत में, तेज़ क़दम उठाता, आगे ही आगे चला आ रहा है यह कौन होगा ? धरती का चलता फिरता कोई ज़िंदा मनुष्य या कोई भूत प्रेत ? बड़े बूढ़े कहा करते थे कि बुरी आत्मायें अकेले में भटका करती हैं. वह किसी को उजाड़ने, तबाह बरबाद करने निकलती हैं और किसी पर बुरी नियत कर, किसी की बनती बिगाड़ने में ही उनको आनन्द आता है. वरना इस सुनसान में इस ख़ुशी से कौन जाता ?...... ओह ! हे भगवान् !! यह तो भूत प्रेत नहीं है, कोई बुरी तड़पती हुई आत्मा भी नहीं, बल्कि यह तो कोई सचमुच माँस और हड्डी गोश्त पोस्त का बना इनसान है जो तेज़ी से छलांगता, फांदता भागा चला आ रहा है. अगर मेरी आँखें मुझे धोका नहीं दे रहीं तो यह वर्दी !......उस पर लटकती हुई यह बंदूक़ और तलवार !! यह कोई रज़ाकार तो नहीं ? रज़ाकार, जिसके ज़ुल्म के कारनामे सुन रौंगटे खड़े हो जाते हैं, बदन में कंपकंपी पैदा हो जाती है. जिसके जुर्मों की करतूत एक कभी न खतम होने वाली कहानी है. बिलकुल वही मालूम होता है. आह !...वही है. और कोई हो भी कौन सकता है. इस अँधियारी जगह जहाँ न कोई क़ानून चलता है न ही कोई पूछने या टोकने वाला है. और किसी की भला क्या हिम्मत कि फ़ौजी वर्दी पहने, ख़ौफ़नाक हथियार बाँधे घूम फिर सकने की सोचे. एक करेला दूसरे नीम चढ़ा. यही रंग ढंग तो इसकी करतूतों में एक नई बात जोड़ देते हैं. तो क्या आज कहीं हमला होगा, किसी को लूटा खसोटा जायगा; या फिर .... किसी की जान ली जायगी ? आज़ाद लोक राज के लिए लड़ रहे, किसी शरीफ़ सिपाही की जीवन ज्योति बुझाने को यह आँधी का सामान तो नहीं इकट्ठा किया जा रहा ? परमात्मा जाने...यह आधी रात बीते दारुस्सलाम में इसे ऐसा भी क्या काम आन पड़ा ? उस गठरी में भला क्या हो सकता है ? कोई क़ीमती तोहफ़ा या कोई...डरावना हथियार. पर नहीं, यह चीजें नहीं हो सकतीं. इन बेरहम डाकुओं के सरदार के

पास ऐसी चीजों की कमी नहीं है. अब वह इन के पीछे कहाँ ठोकर खाता होगा.

इसकी वर्दी कहती है कि यह तो रजाकार सालार है...लो वह दरवाज़े के सामने ठहर गया. रात को इस सियाह तारीकी में सालार को ख़ुश-ख़ुश आता देख, पहरेदार के होंटों पर भी मुस्कराहट खेलने लगी. सालार की अन्दर जाते ही अपने मालिक पर निगाह पड़ी. वह परेशान हुआ, बेचैनी से कमरे के एक कोने से दूसरे कोने तक चक्कर काट रहा था. क्या वह इसी मुलाक़ात का बेसब्री से इंतज़ार कर रहा था या किसी और ही दूसरी बात पर झुंझला रहा है.

सालार को उसी दम अन्दर जाने की इजाज़त मिल गई.

"अल्ला हो अकबर" बरकतपुर के रजाकार सालार ने ठाठ से सलाम ठोंकते हुए कहा.

कुछ जवाब देने से पहले मुजाहिदे आज़म ने सालार पर एक गहरी नज़र डाली और फिर बोला—"कहो सालार, आज तुम बहुत ख़ुश दिखाई दे रहे हो. यह तुम्हारे हाथ में क्या है ?"

"यह एक क़ीमती तोहफ़ा है सरकार. जिसे अपने रहनुमा की ख़िदमत में पेश करने की इज़्ज़त मुझे मिल रही है. यह उस ग़द्दार का हाथ है जो कभी काफ़िर शोऐबुल्ला खान कहलाता था."

"शोएब !" मुजाहदे आज़म ने चिल्लाकर हैरानी से पूछा और उस बंडल को लेने को उसके हाथ आगे बढ़े. उसके चेहरे से साफ़ टपकता था कि इसमें वह एक इज़्ज़त महसूस करता है. उसने सालार की तरफ़ कुछ इस तरह देखा जैसे इतनी बात से उसकी अभी तसल्ली नहीं हुई. उसके कान अभी कुछ और सुनना चाहते हैं.

"मैंने पहले उस पर गोली चलाई और फिर अपनी तलवार से उसका हाथ काट डाला. एक बार में ही उसका हाथ मेरे हाथ में था. सारी बात इतनी आसानी से हो गई कि बच्चों का खेल मालूम हुई. रात के एक बजे,

दरख़्त के पीछे छुप कर, निहत्थे आदमी पर निशाना साध देना क्या मुश्किल था."

"लेकिन तुम्हें कुछ तो देर लगी होगी. वह चिल्लाया भी तो होगा."

"नहीं हु.ज़ूर वाला, बिलकुल नहीं. वह तो एक ढीठ मजा हुआ काफ़िर था. बचा जी चिल्ला कैसे पाते, इसके पहले कि कोई आता हमने जी खोलकर दो, तीन, चार, पाँच, क्या पूरे छै हाथ तलवार के दिए."

"ओह ! तो ऐसे हुआ. क्या वह अपने इरादों में इतना बुज़दिल था ?" मुजाहिदे आज़म ने घबराई हुई आवाज़ में चिल्लाते हुए कहा. पर उसे अपनी आवाज़ में मिली हुई घबराहट अखरी. उसने फ़ौरन एकान्त के लिए कहा.

"तुम जा सकते हो. मैं बहुत ख़ुश हूँ." यह शब्द उसने बड़ी मुश्किल से कहे. उसे अपनी आवाज़ वेपहचानी मालूम हुई. और सालार, वह ख़ुद हैरान था कि आख़िर बात क्या है.

सालार उस समय जा चुका था.

"तुम क्या सचमुच ख़ुश हो."

"तुम......तुम कौन हो ?"

"तुम्हारी आत्मा"

"क्या तुम अभी तक ज़िंदा हो ! जी चाहता है तुम्हें इसी दम मौत के घाट उतार दूँ."

"तुम ऐसा कर ही नहीं सकते. सुनो, हम दोनों इकट्ठे मरेंगे. ख़ैर छोड़ो. यह तो बताओ कि जो कुछ तुम्हारे रज़ाकारों ने किया है क्या वह वाक़ई जायज़ और ठीक किया है ?"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं. वह बहादुर हैं. उनकी रगों में जवान ख़ून है और यह काम उनकी बहादुरी का एक नमूना है."

"ऐसी बेवक़ूफ़ी की बातें मेरे सामने न करो. तुम मुझे धोका नहीं दे

कर रहे हो. तुम पागलपन के हुक्म देना जानते हो और तुम्हारे रज़ाकार, उसे आंखें और कान बंद करके मानना."

'क्या कहा ! पागलपन ! तुम इसे पागलपन कहते हो !

"हाँ मैं पागलपन कहता हूँ. तुम मुझे डरा और धमका नहीं सकते. मैं बुजदिल और कमजोर नहीं हूँ. तुमने कहा—'गद्दारों के हाथ काट डालो' और कहने भर की देर थी कि तुम्हारे रज़ाकारों ने इस आज्ञा का आंखें मूंद पालन करना शुरू कर दिया. कितने मजहबी अंधे हो तुम और तुम्हारे रजाकार. तुम सोचते भी तो नहीं." मुजाहिदे आजम के पास इस बात का जवाब कुछ न था.

"ज़रा सोचो दुनिया क्या कहेगी. लोक राए को सोचो.

"क्या इन बातों के बाद भी वह तुमसे हमदर्दी करेंगे ? शायद मतलबी लोग तुम्हारे हक में हो भी जाते. पर तुम इस दरजे के फ़ासिस्ट हो और इतने मजहबी पागलपन में रंगे हुए हो कि वह लोग भी कुछ नहीं कर सकते. यू० एन० ओ० के हां भी तुमने अपनी बाजी खुद अपने हाथों उलट दी. तुमने ख़ुद मुसीबत को आने के लिए दावत दी है. हिन्दुस्तान अपनी फ़ौजें अब भेजेगा"

"वह ऐसा नहीं कर सकते !"

"क्यों नहीं कर सकते ! जब रियासत में प्रजा के जान व माल की हिफ़ाजत नहीं हो रही तो इसके सिवा उनके पास चारा ही क्या है !"

"लेकिन मैं बनियों और ब्राह्मणों से डरने वाला नहीं हूँ."

"हा ! हा ! हा ! आहा हाहा हा ! तो जाओ, मैदाने जंग में जाकर अपने आपको आज़मा देखो. तुम मुझसे झूट बोलने की कोशिश करते हो !"

मुजाहिदे आजम के काटो तो लहू नहीं था. उसका चेहरा काला और डरावना दिखाई देने लगा. हर घड़ी वह चेहरा और भी भयंकर होता गया. अपनी आत्मा की आवाज़ को कौन देर तक कुचले रख सकता है. जीत उसी की हुई. बाज़ी आत्मा के हाथ रही. हम नहीं

जानते कि वह कितनी देर तक वहाँ तड़पता रहा और चिल्लाता रहा. आत्मा का बोझ उसे पहाड़ की तरह महसूस होता था और आखिरी समय का डर उसके दिल पर बुरी तरह छा गया था. पर हमें इतना मालूम है कि जब पहरेदार ने कमरे में आकर 'मुजाहिदे आज़म' कहा तो वह खीज कर चीख उठा 'नरक में चला गया है मुजाहिदे आज़म' और वह संतरी तो यहाँ तक कहता है कि उसकी अपनी आँखों के सामने से मुजाहिदे आज़म दूर परे हटता गया. और दूर, और दूर यहाँ तक कि हवा के परदों में वह घुल मिल कर ओझल हो गया.

पर क्या यह सच है ! हाँ सोलह आने सच. वह गधे के सिर से सींग की तरह गायब हो रहा है और वह दिन दूर नहीं जब हम अपने कानों से सुनेंगे कि आखिर वह अपनी मंज़िल पर पहुँच ही गया. उसकी आखिरी मंजिल यानी —जहन्नुम.

और शोऐब !

वह हर हैदराबादी के दिल में हमेशा के लिये अपनी जगह बना कर बैठ गया है.

[अनुवादक श्री जितेन्द्र कौशिक]

बाप

आख़िरी श्रद्धांजलि

[पंडित जवाहरलाल नेहरू का वह तारीख़ी भाषण जो उन्होंने १२ फरवरी '४८ को इलाहाबाद में संगम के किनारे दिया था.]

आख़िरी सफ़र खतम हो गया है और इस पवित्र सफ़र की आख़िरी मंज़िल भी तय हो चुकी है. देश की इस लम्बी चौड़ी धरती पर गांधी जी पचास साल तक घूमते रहे. उन्होंने हिमालय पर्वत, उत्तरी-पच्छिमी सरहदी सूबा और उत्तर व पूरब में ब्रह्मपुत्र नदी से लेकर दक्खिन में कन्या कुमारी तक सफ़र किया और वह इस देश के एक-एक भाग और एक-एक कोने में गये. एक यात्री और यात्रा का आनन्द लेने वाले के रूप में नहीं बल्कि इस देश के निवासियों की हालत और मुशकिलों को समझने और उनकी सेवा करने के लिये. शायद इतिहास किसी ऐसे व्यक्ति का नाम नहीं पेश कर सकता जिसने गांधी जी की तरह इस देश के कोने-कोने का सफ़र किया हो, जनता की हालत को उनकी तरह समझा हो और उनकी तरह लगातार सेवा करता रहा हो. लेकिन अब इस दुनिया में उनका सफ़र खतम हो गया है. हालाँकि हमें अभी कुछ दिनों और सफ़र करना है. बहुत से लोग रंज और मातम कर रहे हैं और

यह मुनासिब और कुदरती बात भी है. लेकिन सवाल यह है कि आखिर हम मातम क्यों करें ? क्या हम गांधी जी का दुख मना रहे हैं, या किसी और चीज का ? उनके जीवन की तरह उनकी मौत में भी एक ऐसी चमक मौजूद है जो आने वाले जमाने में सदियों तक हमारे देश का रोशन करती रहेगी. फिर हम गांधी जी के लिये शोक क्यों मनायें ? हमें तो अपने लिये रोना चाहिये. अपनी कमजोरियों पर शोक मनाना चाहिये. हमें अपनी छाती तो अपने दिलों की सियाही, अपने मतभेदों, अपने झगड़ों के लिये पीटनी चाहिये. याद रखिये कि गांधी जी ने हमारी इन्हीं बुराइयों को दूर करने के लिये अपनी जान दी है और पिछले कुछ महीनों में उन्होंने पूरा ध्यान और सारी शक्ति इसी पर लगाई है. अगर हम उनका इज्जत करते हैं तो मैं पूछता हूँ कि यह इज्जत उनके नाम की होनी चाहिये या उन सिद्धान्तों की जिनकी गांधी जी वकालत करते रहे हैं, उन तालीमों और सलाहों की जो वह देते रहे हैं और खास तौर पर उस बात की जिसके लिये गांधी जी ने अपनी जान दी है.

आज गंगा के किनारे पर खड़े हुए हमें अपने दिलों को टटोलना और अपने आपसे यह सवाल करना चाहिये कि हम गांधी जी के बताये हुए रास्ते पर कहाँ तक चले हैं और हमने दूसरों के साथ शान्ति और सहयोग के साथ जीवन बिताने की किस हद तक कोशिश की है ? अगर आज भी हम सीधा रास्ता अपना लें तो यह चीज हमारे देश के लिये बहुत ही अच्छी होगी.

हमारे देश ने एक महान इन्सान को जन्म दिया था और यह व्यक्ति हिन्दुस्तान ही के लिये नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिये रोशनी की हैसियत रखता था. लेकिन उसे हमारे भाइयों और हमारे देश वासियों ने मौत के घाट उतार दिया. ऐसा क्यों हुआ ? आप कहेंगे कि यह एक पागलपन का काम था लेकिन इससे इस दुर्घटना की व्याख्या नहीं हो सकती. बल्कि यह दुर्घटना सिर्फ इसलिये हो सकी कि इसका बीज नफ़रत और दुश्मनी के जहर में बोया गया था. फिर उस पेड़ की जड़ें सारे देश में फैल गईं और इससे हमारी क़ौम के बेशुमार लोगों पर असर पड़ा. इसी बीज से यह जहरीला पौधा पैदा हुआ. इसलिये हमारा फर्ज है कि हम नफ़रत और अविश्वास के इस जहर का मुक़ाबला करें. अगर हमने गांधी जी से कोई सबक़ लिया है तो हमें अपने दिल में किसी व्यक्ति की तरफ़ से भी नफ़रत और दुशमनी नहीं रखनी चाहिये. हमारा दुशमन कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि हमारा दुशमन तो वह जहर है जो लोगों के अन्दर मौजूद है. हम उसी का मुक़ाबला करते हैं और हमें उसी को खतम करना चाहिये. हम निर्बल और कमज़ोर हैं लेकिन एक हद तक गांधी जी की शक्ति भी हमारे साथ शामिल हो गई है. उनकी जीत और फ़तेह की परछाइयाँ हमारी शारीरिक शक्ति बढ़ाने का कारन भी बनी हैं. ताक़त और बड़ाई उन्हीं की थी और वह रास्ता भी जो उन्होंने हमें दिखाया था, उन्हीं का रास्ता था. हम उस रास्ते पर चलते और गांधी जी की ख़ाहिश के अनुसार अपने देशवासियों की सेवा करने

की कोशिश करते हुए बार-बार डगमगाये और अकसर गिर भी पड़े.

अब हमारी ताक़त का सहारा मौजूद नहीं. लेकिन मुझे यह बात नहीं कहनी चाहिये. आज यहाँ जो दस लाख आदमी मौजूद हैं उनके दिल में गांधी जी की मूर्ती रक्खी हुई है और हमारे वह करोड़ों देशवासी भी जो यहाँ मौजूद नहीं हैं उन्हें कभी भूल नहीं सकते. फिर आने वाली वह पीढ़ियाँ भी, जिन्होंने न तो उन्हें देखा है और न अभी तक उनके बारे में कुछ सुना है, इस मूर्ती को अपने दिल में जगह देंगी क्योंकि अब यह मूर्ती हिन्दुस्तान की विरासत और तारीख़ का एक अंश बन गई है. आज से तीस या चालीस साल पहले वह ज़माना शुरू हुआ था जिसे 'गांधी युग' के नाम से याद किया जाता है और आज यह युग खतम होगया—लेकिन नहीं, मैंने यह बात ग़लत कही है क्योंकि यह युग खतम नहीं हुआ बल्कि शायद यह युग सच्चे मानो में अब शुरू हुआ है. लेकिन किसी हद तक बदले हुए रूप में, उस वक्त तक हम सलाह और सहायता के लिये उनकी तरफ़ देखते रहते थे लेकिन अब आगे हमें अपने पैरों पर खड़ा होना और अपनी जान पर भरोसा करना पड़ेगा. हमारी ख़्वाहिश है कि उनकी याद हमारे अन्दर अमल का जज़्बा पैदा करे और उनकी तालीम हमारे रास्ते को रोशन करती रहे. हमें उनके इस बार-बार दिये हुए संदेश को याद रखना चाहिये कि—अपने दिलों से डर और झगड़े फ़साद के भाव को निकाल दो, हिंसा को खतम कर दो और आपस के

झगड़ों को सदा के लिये भुला कर अपने देश की आजादी को बनाये रक्खो.

गांधी जी हमें आजादी की मंजिल तक लाये और इस मंजिल तक पहुँचने के लिये जो रास्ता अपनाया, दुनिया उसे देख कर हैरान रह गई. लेकिन आजादी मिलने के बाद उसी छन हमने अपने गुरू की शिक्षा को भुला दिया. हैवानियत और बरबरियत की एक लहर ने हमारी क़ौम पर क़ाबू पा लिया और सारी दुनिया में हिन्दुस्तान के उजले और खूबसूरत नाम को बट्टा लग गया. हमारे बहुत से नौजवान बहक कर ग़लत रास्ते पर पड़ गये. क्या हमें उन्हें अपने दायरे से निकाल देना या कुचल डालना चाहिये? नहीं! वह हमारी ही क़ौम के लोग हैं. हमें उनके ग़लत विचारों को बदल कर उन्हें सही विचारों के साँचे में ढालना और उनको सही शिक्षा देनी चाहिये.

अगर हम होशियार न रहे और हमने वक़्त पर सही क़दम न उठाया तो फ़िरक़ापरस्ती का वह जहर, जो हमारी मौजूदा तबाही का कारन बना है, हमारी आजादी को ही खतम कर देगा. दो तीन हफ़्ता पहले गांधी जी ने आखिरी बार जो व्रत शुरू किया था उसका मक़सद यही था कि हम ग़फ़लत की नींद से जाग कर उस खतरे को देख सकें, जो हमारे सरों पर मँडरा रहा है. उनकी इस अपनी मर्जी से की हुई सरफ़रोशी ने क़ौम की आत्मा को जगा दिया था और हमने उनके सामने इस बात का वचन दिया था कि अब हम अच्छे रास्ते पर चलेंगे और

हमारे इस यक़ीन दिलाने के बाद ही वह व्रत तोड़ने पर राज़ी हुए थे.

गांधी जी हफ़्ते में एक दिन ख़ामोश रहा करते थे. लेकिन अब वह आवाज़ हमेशा के लिये ख़ामोश हो गई और यह मौन सदा के लिये रहेगा. लेकिन फिर भी वह आवाज़ इस वक़्त भी हमारे कानों में आ रही है और हमारे दिल उसे सुन रहे हैं. हमारे देशवासी हमेशा दिल के कानों से इस आवाज़ को सुनते रहेंगे. इतना ही नहीं, बल्कि यह आवाज़ हज़ारों साल तक हिन्दुस्तान की सरहद के पार भी गूंजती रहेगी. क्यों ? इस लिये कि यह आवाज़ सचाई की थी और अगरचे कभी कभी सचाई की आवाज़ को दबा भी दिया जाता है लेकिन इसे ख़तम नहीं किया जा सकता. गांधी जी के नज़दीक हिन्सा सच्चाई के उलटे रूप की हैसियत रखती थी इसलिये उन्हों ने हमारे सामने अमली हिन्सा को ही नहीं बल्कि दिल और दिमाग़ में हिन्सा का ख़याल लाने के ख़िलाफ़ भी प्रचार किया. अगर हम अपने बीच ज़ाहिर होने वाली हिन्सा को बन्द न करेंगे, एक दूसरे के मुक़ाबले में, इन्तहाई सब्र व बरदाश्त और दोस्ती का सबूत न देंगे तो एक क़ौम की हैसियत से हमारा भविष्य बिलकुल तारीक हो जायगा. हिन्सा के रास्ते में मुसीबतें हैं और जहाँ हिन्सा काम करती है वहाँ आज़ादी की देवी आम तौर से बहुत दिनों तक नहीं टिकती. अगर हमारे बीच हिन्सा का जज़्बा और आपसी झगड़े मौजूद हैं तो स्वराज्य और जनता की आज़ादी का ज़िक्र एक बेमानी बात है.

इस मजमे में मुझे हिन्दुस्तानी फ़ौज के बहुत से सिपाही भी नजर आरहे हैं. उनके लिये इस मुल्क की सरहदों और इज्ज़त की हिफाजत करना एक गौरव का काम है. लेकिन वह यह काम उसी वक्त कर सकते हैं जब वह एक होकर काम करें. अगर खुद उनके बीच मतभेद पैदा हो गया तो फिर उनकी ताक़त की क्या क़द्र व क़ीमत बाकी रह सकती है, और वह किस तरह अपने देश की सेवा कर सकते हैं.

लोकशाही आपस में संगठन, संयम और एक दूसरे का लेहाज़ रखने की माँग करती है और आजादी का तकाजा यह है कि दूसरों की आजादी का भी आदर किया जाय. लोकशाही सरकारों के मातहत जो तबदीलियाँ की जाती हैं वह आपस की बात चीत और रज़ामंदी के तरीक़े पर की जाती हैं. हिंसा के साधन इस्तेमाल करके नहीं की जातीं. अगर किसी सरकार को जनता की हिमायत हासिल नहीं होती तो दूसरी सरकार, जिसे यह हिमायत हासिल होती है, उसकी जगह ले लेती है. हाँ कुछ छोटी-छोटी पार्टियाँ, जिन्हें जनता का समर्थन और हिमायत हासिल नहीं होती, वह हिंसा की कारवाइयाँ करने पर उतर आती हैं और अपनी हिमाक़त के कारन यह समझती हैं कि इस तरह वह अपने मकसद को हासिल कर लेंगी. उनका यह ख़याल सिर्फ़ ग़लत ही नहीं बल्कि बेवक़ूफ़ी से भी भरा होता है, क्योंकि इन थोड़े से लोगों की इस हिंसा का जिससे वह ज्यादा लोगों को डराने की कोशिश करती हैं, यह नतीजा होता है कि ज्यादा लोग भी जोश में आकर हिंसा पर उतर आते हैं.

इस जबरदस्त दुर्घटना के होने का कारन यह है कि बहुत से लोगों ने, जिनमें कुछ बड़ी हैसियत के लोग भी हैं, हमारे देश की हवा को जहरीला बना दिया है. सरकार और जनता का फर्ज है कि वह इस जहर के असर की जड़ तक उखाड़ कर फेंक दे. हमने यह सबक इतनी क़ीमत अदा करने के बाद हासिल किया है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती. क्या इस वक़्त भी यहाँ हमारे बीच कोई ऐसा व्यक्ति मौजूद है जो गांधी जी के बाद भी उनका मिशन पूरा करने के लिये प्रतिज्ञा न करेगा ? उस मिशन को पूरा करने की प्रतिज्ञा, जिसके लिये हमारे देश की ही सबसे बड़ी हस्ती नहीं बल्कि दुनिया की सबसे बड़ी हस्ती ने अपनी जान क़ुरबान कर दी.

आप, मैं ग़रज़ कि हम सब अपने देश की इस पवित्र जमुना नदी के रेतीले मैदान से अपने अपने घर चले जायँगे, हमें तनहाई और उदासी महसूस होगी और अब हम फिर कभी गांधी जी को न देख सकेंगे. जब कभी हमारे सामने कोई अहम सवाल आ जाता था, जब किसी मामले में कोई शक व शुबह पैदा हो जाता था तो हम सलाह और रहनुमाई हासिल करने के लिये गांधी जी के पास चले जाते थे, लेकिन अब हमें सलाह देने और हमारे बोझ को हलका करने के लिये कोई हस्ती मौजूद नहीं. फिर अकेला मैं या चन्द लोग ही गांधी जी की मदद हासिल करने के लिये उनकी तरफ नहीं देखते थे बल्कि इस देश के हज़ारों नहीं बल्कि लाखों आदमी उन्हें अपना दोस्त और सलाहकार समझते थे. हम लोग महसूस करते हैं कि

उनके सामने हमारी हैसियत बच्चों जैसी थी. वह सही तौर पर क़ौम के बाप कहलाते थे और आज करोड़ों घरों में इसी तरह शोक मनाया जा रहा है जिस तरह अपने प्यारे बाप की मौत पर मनाया जाता है.

हाँ, तो हम नदी के इस किनारे से उदास और ग़मगीन वापस जायँगे लेकिन हम इस बात पर फख़् भी करेंगे कि हमें अपने सरदार, अपने रहनुमा, अपने दोस्त और उस महापुरुष को देखने, उसके साथ रहने, उससे बात करने और उसे उसकी आख़िरी मंज़िल तक पहुंचाने का गौरव प्राप्त हुआ है जिसने हमें आज़ादी और सच्चाई के रास्ते की इन्तहाई ऊँचाई पर पहुँचाया था. संघर्ष और जदोजेहद का रास्ता भी, जो गांधी जी ने हमें बताया था, सच्चाई का ही रास्ता था. इस बात को भूलना नहीं चाहिये कि उन्होंने हमें जो राह दिखाई थी, वह हिमालय की चोटियों पर खामोशी के साथ बैठने की राह नहीं बल्कि नेकी के लिये बुराई के साथ जंग करने की राह थी. इसलिये हमें मैदान से बच निकलने और आराम करने की राहें तलाश करने के बजाय लड़ते रहना चाहिये. हमें अपना फर्ज़ अदा करना और उस अहद को पूरा करना है जो हमने गांधी जी के सामने किया था. हमें सच्चाई और धर्म के रास्ते पर चलना चाहिये और हिन्दुस्तान को एक ऐसा महान देश बना देना चाहिये जहाँ विश्वास और शान्ति की हवा मौजूद हो और धर्म व जाति के भेद भाव के बग़ैर हर मर्द और औरत इज़्ज़त और आज़ादी का जीवन बिता सके.

हम कितनी बार महात्मा जी की जय का नारा बुलन्द करते हैं और यह नारा लगाकर हम खयाल कर लेते हैं कि हमने अपना फर्ज अदा कर दिया है. गांधी जी को इस शोर गुल से हमेशा तकलीफ महसूस होती थी क्योंकि वह जानते थे कि यह नारा बेहकीकत है और कभी कभी काम करने और सोच विचार करने की जगह भी नारों को ही दी जाती थी. महात्मा जी की जय का मतलब है महात्मा जी की जीत हो. लेकिन हम गांधी जी के लिये किस जीत की तमन्ना कर सकते हैं? उन्हें तो जिन्दगी और मौत दोनों में जीत हासिल हुई अब तो आपको, मुझे और इस बदनसीब मुल्क को विजय हासिल करने के लिये संघर्ष की जरूरत है.

जिन्दगी भर गांधी जी हिन्दुस्तान के गरीबों और दुखी कुचली हुई जनता को निगाह से देखते रहे. उनकी जिन्दगी का मिशन उनको ऊँचा उठाना और आज़ाद कराना था. उन्होंने अपनी जिन्दगी को उन्हीं जैसा बना लिया और उन्हीं जैसा लिबास पहनने लगे, जिसमें कि मुल्क से छोटे बड़े का भेद उठ जाय. गांधी जी की जय का मतलब दर असल उन लोगों की आजादी और तरक्की ही है.

गांधी जी-हमारे लिये किस तरह की जीत और कामयाबी चाहते थे? वह जीत और कामयाबी नहीं जिसे हासिल करने के लिये बहुत सी क़ौमें और देश हिंसा, धोका व फरेब और बुराइयों के जरिये इख़तियार कर रहे हैं. इस तरह की जीत टिकाऊ नहीं होती. टिकाऊ जीत और विजय की बुनियाद तो सच्चाई की चट्टान पर ही रक्खी जा सकती है. गांधी जी ने हमें आजादी की लड़ाई के ढंग

और डिपलोमेसी की नई राह दिखाई है और उन्होंने राजनीति में सचाई, आपस का विश्वास और अहिंसा का इस्तेमाल करके दुनिया को अपने तजरबे की कामयाबी दिखलादी है. उन्होंने हमें सियासी और मजहबी विश्वासों के अलग-अलग होने के बावजूद एक हिन्दुस्तानी और शहरी होने के नाते हर इन्सान की इज्जत करने और उसके साथ सहयोग करने का सबक़ दिया है. हम सब भारत माता के बेटे हैं और हमें इसी देश में जीना और यहीं मरना है. हमने जो आजादी हासिल की है उसमें हम सब बराबर के शरीक हैं और आजाद हिन्दुस्तान तरक़्क़ी की जो सुविधायें पहुँचा सकता है और आज़ादी के कारन जो फायदे हो सकते हैं, हमारे देश के सारे निवासियों का उनपर बराबर का हक़ है. गांधी जी ने कुछ चुने हुए लोगों के फ़ायदे के लिये ही यह लड़ाई नहीं लड़ी थी और न उनके जान देने का मक़सद ही यह है. हमें गांधी जी के ही बताये हुए रास्ते पर चलकर उन्हीं के मक़सदों को पूरा करने की कोशिश करनी चाहिये. उसी समय हम अपने को 'गांधी जी की जय' का नारा लगाने का सही अधिकारी साबित कर सकेंगे.

रतन लाल बंसल की दूसरी किताब—

मुस्लिम देशभक्त

पिछले बरसों में अंग्रेजों के इशारे पर हमारे देश में इस बा का काफ़ी प्रचार किया गया कि हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने हिन्दु स्तान की आज़ादी की लड़ाई में कभी हिस्सा नहीं लिया. इस प्रचार से जो ज़हर फैला, उसका नतीजा हमारे सामने है. आज़ाद की लड़ाई के पिछले दौर में मुसलमान जनता जिस तरह उससे दूर दूर रही और हिन्दू जिस तरह आज हर एक मुसलमान को देश का दुश्मन मान बैठे हैं, वह सब इसी प्रचार का नतीजा है.

लेकिन यह किताब इस ग़लत-फ़हमी को मिटाने में काफ़ी मदद कर सकती है. इसमें उन मुसलमान देशभक्तों का इतिहास है, जिन्होंने अंग्रेजों के आते ही उनको यहाँ से हटाने की कोशिशें शुरू कर दी थीं. उनकी क़ुरबानियों की कहानियाँ आपके दिलों को रोशनी से भर देंगी. त्योहारों के ऊपर मुसलमान भाई अपने हिन्दू दोस्तों को और हिन्दू अपने मुसलमान दोस्तों को यह किताब भेंट कर सकते हैं. यह किताब हिन्दी उर्दू दोनों लिखावटों में मिल सकती है.

सुन्दर जिल्द के साथ किताब का दाम: सिर्फ़ एक रुपया बारह आने की किताब है. महसूल डाक गाहक के जिम्मे.

मैनेजर—'नया हिन्द' ४८, चाई का बाग़ इलाहाबाद.

गङ्गादीन जायसवाल ने श्याम प्रिन्टिंग प्रेस,
इलाहाबाद. में छापा.